॥ ओ३म् ॥

अष्टाध्यायी (भाष्य) प्रथमावृत्तिः

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद् भद्रं तन्न आसुव ॥ यजु० ३०।३॥

अथ शब्दानुशासनम् ॥

अथ अव्ययपदम् ॥ शब्दानुशासनम् १।१ ॥ **समासः**—शब्दानाम् अनुशासनम् शब्दानुशासनम्, षष्ठीतत्पुरुषसमासः ॥ अत्र कर्मणि षष्ठी ॥ **अर्थः**—अथ इत्ययमधिकारार्थः प्रयुज्यते । शब्दानुशासनम् = व्याकरणशास्त्रम् आरभ्यत इत्यर्थः ॥

भाषार्थः—**इस सूत्र में 'अथ' शब्द अधिकार के लिये है । यहां से लौकिक (लोक में प्रयुक्त) तथा वैदिक (वेद में प्रयुक्त) शब्दों का अनुशासन, उपदेश (अर्थात् व्याकरण) का आरम्भ करते हैं । यहां से व्याकरणशास्त्र का अधिकार चलता है, ऐसा समझना चाहिये ॥**

[अथ प्रत्याहारसूत्राणि]

अइउण् ॥१॥

अ, इ, उ इत्येतान् वर्णानुपदिश्यान्ते णकारमितं करोति (पाणिनिराचार्यः) प्रत्याहारार्थम् । स णकार एकेन आदिना अकारेण गृह्यते उरण्रपरः (१।१।५०) इत्यादिषु सूत्रेषु । अकारोऽत्र विवृतः प्रतिज्ञायते सावर्ण्यार्थम् ॥

भाषार्थः—**'अ, इ, उ' इन तीन वर्णों का उपदेश करके, अन्त में (आचार्य पाणिनि ने) इत्संज्ञक (१।३।३) णकार रखा है । इससे आदि अकार के साथ एक 'अण्' प्रत्याहार सिद्ध होता है, जिसका ग्रहण उरण्रपरः (१।१।५०) इत्यादि सूत्रों में होता है ॥ प्रयोग में अकार संवृत प्रयत्नवाला है, परन्तु यहां अकार को विवृत माना गया है, जिससे वह आकार का सवर्ण सिद्ध हो जाता है ॥**

विशेष—'प्रत्याहार' संक्षेप करने को कहते हैं। जैसे अण् कहने से अ,इ,उ तीन वर्णों का ग्रहण होता है, अच् कहने से अ से च् तक सब स्वरों का। हल् कहने से सारे व्यञ्जनों का ॥

ऋलृक् ॥२॥

ऋ, लृ इत्येतौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते ककारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति त्रिभिः अ-इ-उ इत्येतैः। **अक्—अकः सवर्णे दीर्घः** (६।१।९७)। **इक्=इको गुणवृद्धी** (१।१।३)। **उक्—उगितश्च** (४।१।६) ॥

भाषार्थः—**ऋ, लृ इन वर्णों का उपदेश करके, अन्त में ककार इत्संज्ञक रखा है, प्रत्याहार बनाने के लिये। इससे ३ प्रत्याहार बनते हैं—अक्, इक् उक्। कहां-कहां बनते हैं, सो ऊपर संस्कृत में दिखा दिये हैं ॥**

एओङ् ॥३॥

ए, ओ इत्येतौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते ङकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। नस्य ग्रहणं भवत्येकेन **एङि पररूपम्** (६।१।९१) **इत्येकारेण ॥**

भाषार्थः—**ए, ओ इन दो वर्णों कां उपदेश करके अन्त में ङ् इत्संज्ञक रखा है। इससे एक एङ् प्रत्याहार बनता है ॥**

ऐऔच् ॥४॥

ऐ, औ इत्येतौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते चकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति चतुर्भिः अ-इ-ए-ऐ इत्येतैः। **अच्—अचोन्त्यादि टि** (१।१।६३)। **इच्—इच एकाचोम्प्रत्ययवच्च** (६।३।६६)। **एच्—एचोयवायावः** (६।१।७५)। **ऐच्—वृद्धिरादैच्** (१।१।१) ॥

भाषार्थः—**ऐ, औ इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में इत्संज्ञक 'च्' रखा है। इससे ४ प्रत्याहार बनते हैं—अच्, इच्, एच्, ऐच् ॥**

हयवरट् ॥५॥

ह, य, व, र इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते टकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवत्येकेन **शश्छोऽटि** (८।४।६२) इत्यकारेण ॥

भाषार्थः—**ह, य, व, र इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में ट् इत्संज्ञक रखा है। इससे एक अट् प्रत्याहार ही बनता है ॥**

विदित रहे कि हयवरट् से लेकर हल् सूत्र तक जितने व्यञ्जनों का उपदेश किया है, उन सब में अकार उच्चारणार्थ है। वस्तुतः ये ह् य् इस प्रकार हैं ॥

लण् ॥६॥

ल इत्येकं वर्णमुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते णकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । **अण—अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (१।१।६८) । **इण्—इण्कोः** (८।३।५७) । **यण्—इको यणचि** (६।१।७४) ॥

भाषार्थः—ल इस वर्ण का उपदेश करके अन्त में इत्संज्ञक ण् रखा है प्रत्याहार बनाने के लिये । इससे तीन प्रत्याहार बनते हैं—अण्, इण्, यण् ॥

ञमङणनम् ॥७॥

ञ, म, ङ, ण, न इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते मकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवति चतुर्भिः अ-य-ङ-ञ इत्येतैः । **अम्—पुमः खय्यम्परे** (८।३।६) । **यम्—हलो यमां यमि लोपः** (८।४।६३) । **ङम्—ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्** (८।३।३२) । **ञम्—ञमन्ताड्डः** (उणा० १।११४) ॥

भाषार्थः—ञ, म, ङ, ण, न इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में म् इत्संज्ञक रखा है, प्रत्याहारसिद्धि के लिये । इससे चार प्रत्याहार बनते हैं—अम्, यम्, ङम्, ञम् ॥

झभञ् ॥८॥

झ, भ इति द्वौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते ञकारमितं करोति प्रत्याहारसिद्धयर्थम् । तस्य ग्रहणं भवत्येकेन **अतो दीर्घो यञि** (७।३।१०१) इति यकारेण ॥

भाषार्थः—झ, भ इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में ञ् इत्संज्ञक लगाया है, प्रत्याहार बनाने के लिये । इससे एक प्रत्याहार बनता है—यञ् ॥

घढधष् ॥९॥

घ, ढ, ध इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते षकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम् । तस्य ग्रहणं भवति द्वाभ्यां झ-भ इत्येताभ्याम् । **झष्, भष्—एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः** (८।२।३७) ॥

भाषार्थः—घ, ढ, ध इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में ष् इत्संज्ञक रखा है, प्रत्याहार बनाने के लिये। इससे दो प्रत्याहार बनते हैं—झष्, भष् ॥

जबगडदश् ॥१०॥

ज, ब, ग, ड, द इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते शकारमितं करोति प्रत्याहारसिद्धयर्थम् । तस्य ग्रहणं भवति षड्भिः अ-ह-व-झ-ज-ब इत्येतैः । **अश्—भोभगो-**

ऽघो अपूर्वस्य योऽशि (८।३।१७)। हश्—हशि च (६।१।११०)। वश्—नेड्-वशि कृति (७।२।८)। झश्, जश्—झलां जश् झशि (८।४।५२)। बश्—एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (८।२।३७)॥

भाषार्थः—ज, ब, ग, ड, द इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में श् इत्संज्ञक लगाया है, प्रत्याहार बनाने के लिये। इससे ६ प्रत्याहार बनते हैं—अश्, हश्, वश्, झश्, जश्, बश्॥

खफछठथचटतव्॥११॥

ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते वकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवत्येकेन नश्छव्यप्रशान् (८।३।७) इति छकारेण॥

भाषार्थः—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में व् इत्संज्ञक रखा है, एक प्रत्याहार बनाने के लिये—छव्॥

कपय्॥१२॥

क, प इत्येतौ वर्णावुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते यकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति पञ्चभिः य, म, झ, ख, च इत्येतैः। यय्—अनुस्वारस्य ययि पर-सवर्णः(८।४।५७)। मय्—मय उञो वो वा(८।३।३३)। झय्—झयो होऽन्यतरस्याम् (८।४।६१) खय्—पुमः खय्यम्परे (८।३।६)। चय्—चयो द्वितीयः शरि पौष्करसादेः (वार्त्तिक ८।४।४७)॥

भाषार्थः—क, प इन दो वर्णों का उपदेश करके अन्त में य् इत्संज्ञक रखा है, प्रत्याहार बनाने के लिये। इससे पांच प्रत्याहार बनते हैं—यय्, मय्, झय्, खय्, चय्॥

शषसर्॥१३॥

श, ष, स इत्येतान् वर्णानुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते रेफमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति पञ्चभिः य-झ-ख-च-श इत्येतैः। यर्—यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८।४।४४)। झर्—झरो झरि सवर्णे (८।४।६४)। खर्—खरि च(८।४।५४)। चर्—अभ्यासे चर्च (८।४।५३)। शर्—वा शरि (८।३।३६)॥

भाषार्थः—श, ष, स इन वर्णों का उपदेश करके अन्त में र् इत्संज्ञक लगाया है, प्रत्याहार बनाने के लिये। इससे पांच प्रत्याहार बनते हैं—यर्, झर्, खर्, चर्, शर्॥

हल्॥१४॥

ह इत्येकं वर्णमुपदिश्य पूर्वांश्चान्ते लकारमितं करोति प्रत्याहारार्थम्। तस्य ग्रहणं भवति षड्भिः अ-ह-व-र-झ-श इत्येतैः। अल्—अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा (१।१।

६४)। हल्—हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७)। वल्—लोपो व्योर्वलि (६।१।६४)। रल्—रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (१।२।२६)। झल्—झलो झलि (८।२।२६)। शल् शल इगुपधादनिटः क्सः (३।१।४५)॥

भाषार्थः—ह इस एक वर्ण का उपदेश करके अन्त में ल् इत्संज्ञक लगाया है, प्रत्याहार बनाने के लिये। जिससे छः प्रत्याहार बनते हैं—अल्, हल्, वल्, रल्, झल्, शल्॥

विशेष—इन सूत्रों से प्रत्याहार तो सैंकड़ों बन सकते हैं, पर पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी में ४१ प्रत्याहारों का ही व्यवहार किया है। इसके अतिरिक्त एक उणादि-सूत्र में ञमन्ताड्डः (उणा० १।११४) से ञम् प्रत्याहार, तथा एक चय् प्रत्याहार चयो द्वितीयः शरि पौष्करसादेः (वा० ८।४।४७) इस वार्त्तिक से बनेगा। सो इन दो को मिलाकर कुल ४३ प्रत्याहार हुये॥

ये सारे प्रत्याहार अन्तिम अक्षरों के अनुसार दिखाये गये हैं। ये दूसरे प्रकार अर्थात् आदि अक्षरों के अनुसार भी दिखाये जा सकते हैं, जिनको हम यहीं दिखाते हैं, यद्यपि अन्तिम से ही दिखाना अधिक अच्छा है॥

अकार से ८ प्रत्याहार—अण्, अक्, अच्, अट्, अण्, अम्, अश्, अल्।

इकार से तीन प्रत्याहार—इक्, इच्, इण्।

उकार „ एक „ —उक्।

एकार „ दो „ —एङ्, एच्।

ऐकार „ एक „ —ऐच्।

हकार „ दो „ —हश्, हल्।

यकार „ पांच „ —यण्, यम्, यञ्, यय्, यर्।

वकार „ दो „ —वश्, वल्।

रेफ „ एक „ —रल्।

मकार „ „ „ —मय्।

ङकार „ „ „ —ङम्।

झकार „ पांच „ —झष्, झश्, झय्, झर्, झल्।

भकार „ एक „ —भष्।

जकार „ „ „ —जश्।

बकार से एक प्रत्याहार —बश्।
छकार ,, ,, ,, —छव्।
खकार ,, दो ,, —खय्, खर्।
चकार ,, एक ,, —चर्।
शकार ,, दो ,, —शर्, शल्।

ये प्रत्याहार अष्टाध्यायी में कुल ४१ हुये, तथा ऊपर के दो उणादिसूत्र और वार्त्तिक को मिलाकर ४३ हुये॥

॥इति प्रत्याहारसूत्राणि॥

अथ प्रथमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

वृद्धिरादैच् ॥१।१।१॥

पदच्छेदः, विभक्तिः—वृद्धिः १।१॥ आदैच् १।१॥ **समासः**—आत् च=आच्च, ऐत् च=ऐच्च आदैच्, समाहारद्वन्द्वसमासः ॥ संज्ञासूत्रमिदम् ॥

अर्थः—आ ऐ औ इत्येतेषां वर्णाणां वृद्धिसंज्ञा भवति ॥

उदाहरणानि—भागः, त्यागः, यागः ॥ नायकः, चायकः, पावकः, स्तावकः, कारकः, हारकः, पाठकः, पाचकः ।। शालायां भवः=शालीयः मालीयः ॥ उपगोरपत्यम्=औपगवः, औपमन्यवः । ऐतिकायनः, आश्वलायनः, आरण्यः ॥ अचैषीत् अनैषीत्, अलावीत् अपावीत्, अकार्षीत् अहार्षीत्, अपाठीत्[1] ॥

भाषार्थः—[आदैच्] आत्=आ, ऐच्=ऐ, औ की [वृद्धिः] **वृद्धि संज्ञा होती है ।। यह संज्ञासूत्र है ।। यहां से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति' १।१।३ में जाती है, १।१।२ में अनावश्यक होने से इसका संबन्ध नहीं बैठता है ॥**

अदेङ् गुणः ॥१।१।२॥

पद०, वि०—अदेङ् १।१॥ गुणः १।१॥ **स०**—अत् च=अच्च एङ् च=अदेङ्, समाहारद्वन्द्वसमासः ॥

अर्थः—अ ए ओ इत्येषां वर्णानां गुणसंज्ञा भवति ॥

उदा०—चेता, नेता, स्तोता, कर्ता, हर्ता, तरिता, भविता । जयति, नयति । पचन्ति, पठन्ति । पचे, यजे, देवेन्द्रः, सूर्योदयः, महर्षिः ॥

भाषार्थः—[अदेङ्] **अत्=अ, एङ्=ए, ओ की** [गुणः] **गुण संज्ञा होती है ॥**

यहां से 'गुणः' की अनुवृत्ति १।१।३ तक जाती है ॥

---

१. उदाहरणों की सिद्धि, तथा इनके अर्थ परिशिष्ट में देखें । जिनका परिशिष्ट न हो, उनका अर्थ वा सिद्धि भाषार्थ में देखें । जिनके अर्थ विग्रह में ही स्पष्ट हैं, उनका अर्थ प्रायः छोड़ दिया गया है ॥

परिभाषा सूत्र

गुण/वृद्धि इ, उ, ऋ, ऌ के स्थान में ही हो

इको गुणवृद्धी ॥१।१।३॥

पद० वि०—इकः ६।१॥ गुणवृद्धी १।२॥ **स०**—गुणश्च वृद्धिश्च=गुणवृद्धी, इतरेतरयोगद्वन्द्वसमासः॥ **अनुवृत्तिः**—वृद्धिः, गुणः॥ **अर्थः**—वृद्धिः स्यात्, गुणः स्यात् इति गुणवृद्धिशब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी विधीयेते, तत्र 'इकः' इति षष्ठ्यन्तं पदमुपस्थितं द्रष्टव्यम्=तत्रेकः स्थाने भवत इत्यर्थः॥

उदा०—मेद्यति, चेता कर्ता, जयति। मार्ष्टि। अलावीत्॥

भाषार्थः—**यह परिभाषासूत्र है॥ गुण हो जाये, वृद्धि हो जाये, ऐसा नाम लेकर जहां** [गुणवृद्धी] **गुण वृद्धि का विधान किया जाये, वहां वे** [इकः] **इक् (=इ उ ऋ ऌ) के स्थान में ही हों। यहां 'इकः' में स्थान-षष्ठी है, अर्थात् इक् के स्थान में गुण वृद्धि हो। इस सूत्र में 'इति' पद का अध्याहार किया गया है॥**

इस सारे सूत्र की अनुवृत्ति १।१।६ तक जाती है॥

न धातुलोप आर्द्धधातुके ॥१।१।४॥

पद० वि०—न अव्ययपदम्॥ धातुलोपे ७।१॥ आर्द्धधातुके ७।१॥ **स०**—धात्ववयवो धातुः, धातोर्लोपो यस्मिन् तदिदं धातुलोपम्, तस्मिन् धातुलोपे, बहुव्रीहिसमासः॥ **अनु०**—इको गुणवृद्धी॥ **अर्थः**—यस्मिन्नार्द्धधातुके धातोरवयवस्य लोपो भवति, तस्मिन्नेवार्द्धधातुके इकः स्थाने ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः॥ **उदा०**—लोलुवः पोपुवः। मरीमृजः सरीसृपः॥

भाषार्थः—यह निषेधसूत्र है॥ [आर्द्धधातुके] **जिस आर्धधातुक को निमित्त मानकर** [धातुलोपे] **धातु के अवयव का लोप हुआ हो, उसी आर्द्धधातुक को निमित्त मानकर इक् के स्थान में जो गुण वृद्धि प्राप्त होते हैं, वे** [न] **नहीं होते॥**

यहां से 'न' इस पद की अनुवृत्ति १।१।६ तक जाती है॥

ग्, क्, ङ् इत् में भी

क्ङिति च ॥१।१।५॥

पद० वि०—क्ङिति ७।१॥ च अ०॥ **स०**—गश्च कश्च ङश्च=क्ङ्ङः, क्ङ इतो यस्य स क्ङित्, तस्मिन् क्ङिति, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः॥ **अनु०**—इको गुणवृद्धी, न॥ **अर्थः**—गित्-कित्-ङित्-निमित्तके इकः स्थाने ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः। **उदा०**—**गित्**—जिष्णुः भूष्णुः। **कित्**—चितः चितवान्, स्तुतः स्तुतवान् कृतः कृतवान्। मृष्टः मृष्टवान्। **ङित्**—चिनुतः सुनुतः, चिन्वन्ति सुन्वन्ति, मृजन्ति॥

भाषार्थः—**यहां क्ङिति में निमित्त-सप्तमी है[१]॥** [क्ङिति] **कित् गित् ङित्**

१. सप्तमी तीन प्रकार की होती है (i) पर सप्तमी—परे होने पर (ii) विषय सप्तमी—विषय में (iii) निमित्त सप्तमी—निमित्त मानकर। सो यहां

को निमित्त मानकर [च] भी इक् के स्थान में जो गुण और वृद्धि प्राप्त होते हैं, वे न हों ॥

दीधीवेवीटाम् ॥१।१।६॥

दीधीवेवीटाम् ६।३॥ स०—दीधी च वेवी च इट् च=दीधीवेवीटः, तेषां दीधीवेवीटाम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वसमासः ॥ अनु०—इको गुणवृद्धी, न ॥

अर्थः—दीधीङ् (दीप्तिदेवनयोः), वेवीङ् (वेतिना तुल्ये) छान्दसौ धातू अदादिगणे पठितौ स्तः । दीधीवेव्योः इटश्च इकः स्थाने ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः ॥ उदा०—आदीध्यनम् आदीध्यकः, आवेव्यनम् आवेव्यकः । पठिता कणिता ॥

भाषार्थः—[दीधीवेवीटाम्] दीधी वेवी धातुओं, तथा इट् के इक् के स्थान में जो गुण वृद्धि प्राप्त हों, वे नहीं होते ॥ इट् की वृद्धि का उदाहरण नहीं हो सकता, अतः नहीं दिखाया है ॥

हलोऽनन्तराः संयोगः ॥१।१।७॥

हलः १।३॥ अनन्तराः १।३॥ संयोगः १।१॥ स०—न विद्यतेऽन्तरं येषाम्=ते अनन्तराः, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—अनन्तराः=व्यवधानरहिता हलः संयोगसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—अग्निः, अत्र ग् न् । अश्वः=श् व् । इन्द्रः=न् द् र् । गोमान्, यवमान्, चितवान्[1] ॥

भाषार्थः—[अनन्तराः] व्यवधानरहित (जिन के बीच में अच् न हों ऐसे) [हलः] हलों (दो या दो से अधिक) की [संयोगः] संयोग संज्ञा होती है ॥

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ॥१।१।८॥

मुखनासिकावचनः १।१॥ अनुनासिकः १।१॥ स०—मुखञ्च नासिका च=मुखनासिकम्, ईषद्वचनम् आवचनम्, मुखनासिकम् आवचनं यस्य स मुखनासिकावचनः, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—मुखनासिकमावचनं यस्य वर्णस्य, सोऽनुनासिकसंज्ञको भवति ॥ उदा०—अभ्र आँ अपः (ऋ० ५।४८।१॥ निरु० ५।५), चन आँ इन्द्रः । सुँ, पठँ, एधँ, गाधृँ, ञिमिदाँ ॥

भाषार्थः—यह संज्ञासूत्र है ॥ [मुखनासिकावचनः] कुछ मुख से कुछ नासिका

निमित्त सप्तमी है । अर्थात् गित् कित् ङित् को निमित्त मानकर, ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥

से (अर्थात् दोनों की सहायता से) बोले जानेवाले वर्ण की [अनुनासिकः] अनुनासिक संज्ञा होती है ॥ अभ्र आँ अपः, चन आँ इन्द्रः इन उदाहरणों में 'आङ्' के आ का आङोऽनुनासिकश्छन्दसि (६।१।१२२) से अनुनासिक विधान होने पर, प्रकृत सूत्र ने बताया कि अनुनासिक किसे कहते हैं ॥ सँु के अनुनासिक अच् का उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१।३।२) से इत् संज्ञा होकर लोप होता है ॥ उपदेश क्या है, वा अनुनासिक चिह्न कहाँ वा कब थे, यह हमने परिशिष्ट १।१।१ में लिखा है, और १।३।२ सूत्र पर भी लिखा है, पाठक वहीं देखें ॥

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ॥१।१।६॥

तुल्यास्यप्रयत्नम् १।१॥ सवर्णम् १।१॥ स०—आस्ये प्रयत्नः आस्यप्रयत्नः, सप्तमीतत्पुरुषः । तुल्य आस्यप्रयत्नो यस्य (येन सह), तत् तुल्यास्यप्रयत्नं, बहुव्रीहिः । आस्ये भवं आस्यम् ॥ अर्थः—तुल्य आस्ये प्रयत्नो येषां, ते वर्णाः परस्परं सवर्णसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—दण्डाग्रम् खट्वाग्रम् । यदीदम् कुमारीशः । भानूदयः मधूदकम्, कर्तॄकारः ॥

भाषार्थः—यह संज्ञासूत्र है ॥ [तुल्यास्यप्रयत्नम्] आस्य अर्थात् मुख में होनेवाला स्थान और प्रयत्न तुल्य हों जिनके, ऐसे वर्णों की परस्पर [सवर्णम्] सवर्ण संज्ञा होती है ॥

उदा०—दण्डस्य + अग्रम् = दण्डाग्रम् (दण्ड का अगला भाग), खट्वा + अग्रम् = खट्वाग्रम् (खाट का अगला भाग), यदि + इदम् = यदीदम् (यदि यह), कुमारी + ईशः = कुमारीशः (कुमारी का स्वामी), भानु + उदयः = भानूदयः (सूर्य का उदय), मधु + उदकम् = मधूदकम् (मीठा जल), कर्तृ + ऋकारः = कर्तॄकारः (कर्तृ शब्द का ऋकार) ॥

इन सब उदाहरणों में सवर्ण संज्ञा होने से, सवर्ण अच् परे रहते अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दीर्घ हो जायेगा, यही प्रयोजन है ॥

इस सारे सूत्र की अनुवृत्ति १।१।१० तक जाती है ॥

स्वर + व्यञ्जन ≠ सवर्ण

न अच्-हलौ

नाज्झलौ ॥१।१।१०॥

न अ० ॥ अज्झलौ १।२॥ स०—अच् च हल् च = अज्झलौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ॥ अर्थः—तुल्यास्यप्रयत्नावपि अच्-हलौ परस्परं सवर्णसंज्ञकौ न भवतः ॥ उदा०—दण्ड हस्तः, दधि शीतम् । वैपाशो मत्स्यः, आनडुहं चर्म ॥

भाषार्थः—स्थान और प्रयत्न तुल्य होने पर भी [अज्झलौ] अच् और हल् की परस्पर सवर्ण संज्ञा [न] नहीं होती है ॥

[अथ प्रगृह्यसंज्ञा-प्रकरणम्]

ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥१।१।११॥

ईदूदेद् १।१॥ द्विवचनम् १।१॥ प्रगृह्यम् १।१॥ स०—ईच्च ऊच्च एच्च= ईदूदेद्, समाहारद्वन्द्वः ॥

अर्थः—ईदाद्यन्तं द्विवचनं शब्दरूपं प्रगृह्यसंज्ञं भवति ॥ **उदा०**—अग्नी इति, वायू इति, माले इति । पचेते इति, पचेथे इति । इन्द्राग्नी इमौ, इन्द्रवायू इमे सुताः (ऋ० १।२।४) ॥

भाषार्थः—[ईदूदेद्द्विवचनम्] ईत्=ई, ऊत्=ऊ, एत्=ए जिनके अन्त में हों, ऐसे जो द्विवचन शब्द हैं, उनकी [प्रगृह्यम्] प्रगृह्य संज्ञा होती है ॥ यहां येन विधि० (१।१।७१) से तदन्तविधि होती है ॥

यहां से 'प्रगृह्यम्' की अनुवृत्ति १।१।१८ तक, तथा ईदूदेत् की १।१।१२ तक जाती है ॥

अदसो मात् ॥१।१।१२॥

अदसः ६।१॥ मात् ५।१॥ **अनु०**—ईदूदेत्, प्रगृह्यम् ॥ **अर्थः**—अदसः सम्बन्धी यो मकारः, तस्मात् परे य ईदूदेतः तेषां प्रगृह्यसंज्ञा भवति ॥ उदा०—अमी अत्र, अमी आसते । अमू अत्र, अमू आसाते ॥ एकारस्योदाहरणं नास्ति ॥

भाषार्थः—[अदसः] अदस् शब्द के [मात्] मकार से परे ई, ऊ, ए की प्रगृह्य संज्ञा होती है ॥

शे ॥ १।१।१३॥

'शे' इति लुप्तप्रथमान्तो निर्देशः । सुपां सुलुक्० (७।१।३९) इत्यनेन छान्दस आदेशो गृह्यते ॥ **अनु०**—प्रगृह्यम् ॥ **अर्थः**—शे इत्यस्य प्रगृह्यसंज्ञा भवति ॥ **उदा०**—अस्मे इन्द्राबृहस्पती (ऋ० ४।४९।४), युष्मे इति, अस्मे इति । त्वे इति, मे इति ॥

भाषार्थः—सुपों के स्थान में जो [शे] शे आदेश (७।१।३९ से) होता है, उस की प्रगृह्य संज्ञा होती है ॥

निपात एकाजनाङ् ॥१।१।१४॥

निपातः १।१॥ एकाच् १।१॥ अनाङ् १।१॥ स०—एकश्च असौ अच्च=एकाच्,

कर्मधारयसमासः । न आङ्=अनाङ्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—प्रगृह्यम् ॥ अर्थः—एकाच् यो निपातः तस्य प्रगृह्यसंज्ञा भवति, आङं वर्जयित्वा ॥ उदा०—अ अपेहि, अ अपक्राम। इ इन्द्रं पश्य । उ उत्तिष्ठ ॥

भाषार्थः—[एकाच्] केवल जो एक ही अच् [निपातः] निपात है, उसकी प्रगृह्य संज्ञा होती है, [अनाङ्] आङ् को छोड़कर ॥

उदा०—अ अपेहि (अरे हट)। 'अ' निपात निषेध तथा तिरस्कार अर्थ में होता है । इ इन्द्रं पश्य (ओहो ! इन्द्र को देखो) । यहां 'इ' विस्मयार्थक निपात है । उ उत्तिष्ठ (अरे ! उठ जा) । 'उ' निपात निन्दा संताप तथा वितर्क अर्थ में होता है ॥

यहां सर्वत्र अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।६७) से दीर्घ की प्राप्ति है, पर अ, इ, उ इन तीनों का चादिगण में पाठ होने से चादयोऽसत्त्वे (१।४।५७) से निपात संज्ञा होकर निपात एकाजनाङ् इस प्रकृत सूत्र से एक अच्रूप निपात होने के कारण प्रगृह्य संज्ञा होकर सन्धि का ६।१।१२१ से निषेध हो जाता है ॥

यहां से 'निपातः' की अनुवृत्ति १।१।१५ तक जाती है ॥

ओकारान्त निपात प्रगृह्य

ओत् ॥१।१।१५॥

ओत् १।१॥ अनु०—निपातः, प्रगृह्यम् ॥ अर्थः—ओदन्तो निपातः प्रगृह्यसंज्ञको भवति ॥ उदा०—आहो इति, उताहो इति । नो इदानीम् । अथो इति । अहो अधुना ॥

भाषार्थः—[ओत्] ओकारान्त निपात की प्रगृह्य संज्ञा होती है ॥ यहां येन विधिस्तदन्तस्य (१।१।७१) से तदन्त का ग्रहण होता है ॥

उदा०—आहो+इति, उताहो+इति, (अथवा ऐसा)। नो+इदानीम् (इस समय नहीं) । अथो+इति (अनन्तर) । अहो+अधुना (ओहो अब) ॥

इन उदाहरणों में सर्वत्र एचोऽयवायावः (६।१।७५ की प्राप्ति थी, पर ओदन्त निपात होने से प्रगृह्य संज्ञा होकर सन्धि का निषेध ६।१।१२१ से हो गया है ॥

यहां से 'ओत्' की अनुवृत्ति १।१।१६ तक जाती है ॥

संबुद्धौ शाकल्यस्य इतौ अनार्षे

सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे ॥१।१।१६॥

सम्बुद्धौ ७।१॥ शाकल्यस्य ६।१॥ इतौ ७।१॥ अनार्षे ७।१॥ स०—न आर्षः अनार्षः, तस्मिन् अनार्षे, नञ्तत्पुरुषसमासः ॥ अनु०—ओत्, प्रगृह्यम् ॥ अर्थः—सम्बुद्धिनिमित्तको य ओकारः, तस्य प्रगृह्यसंज्ञा भवति, शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन, अनार्षे (अवैदिके) इतौ परतः ॥

शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञा भविष्यति, अन्येषामाचार्याणां मतेन न भविष्यति । तेन शाकल्यग्रहणेन विकल्पोऽपि सिध्यति ।। उदा०—(शाकल्यमते) वायो इति, (अन्येषां मते) वायविति । भानो इति, भानविति । अध्वर्यो इति, अध्वर्यविति।।

भाषार्थः—[सम्बुद्धौ] सम्बुद्धिनिमित्तक जो ओकारान्त शब्द उसकी प्रगृह्य संज्ञा होती है, [शाकल्यस्य] शाकल्य आचार्य के मत में, [अनार्षे] अनार्ष = अवैदिक (मन्त्र से अन्यत्र, पदपाठ में जो इतिकरण है वह अनार्ष पद से यहां विवक्षित है) [इतौ] इति परे रहते ।।

यहां पाणिनि मुनि ने शाकल्य का मत प्रगृह्य संज्ञा का दिखाया है । सो अन्यों के मत में तो प्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी, अतः विकल्प से दो उदाहरण बनेंगे ।।

यहां से 'शाकल्यस्य' 'इतौ' 'अनार्षे' की अनुवृत्ति १।१।१७ तक जायेगी ।।

उञः ऊँ ।।१।१।१७।।

उञः ६।१।। ऊँ लुप्तविभक्तिकम् ।। अनु०—शाकल्यस्य, इतौ, अनार्षे, प्रगृह्यम्।। अर्थः—उञः प्रगृह्यसंज्ञा भवति, तस्य स्थाने 'ऊँ' आदेशश्च प्रगृह्यसंज्ञको भवति, शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन, अनार्षे इतौ परतः ।। उदा०—उ इति । विति । ऊँ इति ।।

भाषार्थः—[उञः] उञ् की प्रगृह्य संज्ञा होती है शाकल्य आचार्य के मत में, तथा उस के स्थान में प्रगृह्यसंज्ञक [ऊँ] ऊं आदेश शाकल्य आचार्य के मत में होता है, अनार्ष 'इति' परे रहने पर ।।

यहां शाकल्य आचार्य के मत में 'उ इति' में इको यणचि (६।१।७४) से प्राप्त सन्धि का निषेध प्रगृह्य संज्ञा होने से पूर्ववत् हो गया । अन्यों के मत में सन्धि होकर 'विति' बना । अब 'उ' के स्थान में ऊँ आदेश शाकल्याचार्य के मत में होकर 'ऊँ इति' तथा दूसरों के मत में 'विति' भी बना । इस प्रकार कुल तीन रूप बनते हैं । शाकल्य आचार्य के मत में 'ऊँ' आदेश बिना किये 'उ इति', एवं आदेश करके 'ऊँ इति'। ये दो रूप महाभाष्यकार के योगविभाग करने से सुस्पष्ट सिद्ध होते हैं, जो कि शङ्कासमाधान का विषय होने से यहां नहीं बताया जा सकता ।। उञ् में ञकार अनुबन्ध है, सो उसका हलन्त्यम् (१।३।३) से इत् संज्ञा एवं लोप हो जायेगा ।।

ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ।। १।१।१८।।

ईदूतौ १।२।। च अ० ।। सप्तम्यर्थे ७।१।। स०—ईच्च ऊच्च = ईदूतौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । सप्तम्या अर्थः = सप्तम्यर्थः, तस्मिन् सप्तम्यर्थे, षष्ठीतत्पुरुषः । अनु०—प्रगृह्यम् ।। अर्थः—सप्तम्यर्थे वर्त्तमानौ ईकारान्त-ऊकारान्तौ शब्दौ प्रगृह्यसंज्ञकौ

भवतः ॥ उदा०—सोमो गौरी अधिश्रितः । अध्यस्यां मामकी तनू—मामकी इति, तनू इति ॥

भाषार्थः—[सप्तम्यर्थे] सप्तमी के अर्थ में वर्त्तमान [ईदूतौ] ईकारान्त ऊकारान्त शब्दों की प्रगृह्य संज्ञा होती है ॥

दाधाघ्वदाप् ॥१।१।१९॥

दाधाः १।३॥ घु १।१ ॥ अदाप् १।१॥ स०—दाश्च धौ चेति दाधाः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । दाप् च दैप् च=दाप्, न दाप् अदाप्, नञ्तत्पुरुषः ॥ **अर्थः**—दारूपाः धारूपौ च धातवो घुसंज्ञका भवन्ति, दाप्दैपौ वर्जयित्वा ॥ दारूपाश्चत्वारो धातवः —डुदाञ् दाने, दाण् दाने, दोऽवखण्डने, देङ् रक्षणे इति । धारूपावपि द्वौ धातू—डुधाञ् धारणपोषणयोः, धेट् पाने इति ॥ उदा०—प्रणिददाति, प्रणिदीयते, प्रणिदाता । प्रणियच्छति । प्रणिद्यति । प्रणिदयते । प्रणिदधाति, प्रणिधीयते, प्रणिधाता । प्रणिधयति । देहि । धेहि ॥

भाषार्थः—[दाधाः] दा रूपवाले=जिनका 'दा' रूप बन जाता है (अनुबन्धादि लोप होकर), तथा 'धा' रूपवाले=जिनका 'धा' रूप बन जाता है, धातुओं की [घु] घु संज्ञा हो जाती है, [अदाप्] दाप् (लवने) और दैप् (शोधने) इन दो धातुओं को छोड़ कर ॥

आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥ १।१।२०॥

आद्यन्तवत् अ० ॥ एकस्मिन् ७।१॥ स०—आदिश्च अन्तश्च=आद्यन्तौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । आद्यन्तयोरिव आद्यन्तवत्, सप्तम्यर्थे वतिप्रत्ययः (५।१।११५)॥ अतिदेशसूत्रमिदम् ॥ **अर्थः**—एकस्मिन्नपि आदाविव अन्त इव च कार्यं भवति ॥ उदा०—औपगवः, आभ्याम् ॥

भाषार्थः—यह अतिदेश सूत्र है ॥ [एकस्मिन्]एक में भी [आद्यन्तवत्] आदि और अन्त के समान कार्य हो जाते हैं ॥

जिससे पहिले कोई वर्ण न हो, वह 'आदि' कहलाता है । जिसके पीछे कोई वर्ण न हो वह 'अन्त' कहलाता है । इस प्रकार आदि और अन्त का व्यवहार दो या दो से अधिक वर्ण के होने पर ही सम्भव है । पर यदि कोई वर्ण एक ही हो, वहां पर यदि कोई कार्य आदि को कहें या अन्त को कहें, तो वह कैसे हो क्योंकि वह अकेला है, न आदि का है, न अन्त का । सो अकेले में भी आदि और अन्त का व्यवहार मान कर कार्य हो जाये, इसलिये यह सूत्र बनाया है । लोक में भी यदि किसी का एक ही

पुत्र, हो तो वही उसका छोटा एवं वही उसका बड़ा मान लिया जाता है। इसी प्रकार शास्त्र में भी एक में ही आदि और अन्त का अतिदेश कर दिया ॥

तरप्तमपौ घः ॥१।१।२१॥

तरप्तमपौ १।२॥ घः १।१॥ स०—तरप् च तमप् च=तरप्तमपौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अर्थः—तरप्तमपौ घसंज्ञकौ भवतः ॥ उदा०—कुमारितरा, कुमारितमा। ब्राह्मणितरा, ब्राह्मणितमा ॥

भाषार्थः—[तरप्तमपौ] तरप् और तमप् प्रत्ययों की [घः] घ संज्ञा होती है॥

बहुगणवतुडति संख्या ॥१।१।२२॥

बहुगणवतुडति १।१॥ संख्या १।१॥ स०—बहुश्च गणश्च वतुश्च डतिश्च=बहुगणवतुडति, समाहारद्वन्द्वः ॥ अर्थः—बहुगणशब्दौ, वतुडतिप्रत्ययान्तौ च शब्दौ संख्यासंज्ञका भवन्ति॥ उदा०—बहुकृत्वः, बहुधा, बहुकः, बहुशः। गणकृत्वः, गणधा, गणकः, गणशः। तावत्कृत्वः, तावद्धा, तावतकः, तावच्छः। कतिकृत्वः, कतिधा, कतिकः, कतिशः ॥

भाषार्थः—[बहुगणवतुडति] बहु गण शब्दों की, तथा वतुप् और डति प्रत्ययान्त शब्दों की [संख्या] संख्या संज्ञा होती है ॥

यहां से 'संख्या' की अनुवृत्ति २।२।२४ तक जाती है ॥

ष्णान्ता षट् ॥१।१।२३॥

ष्णान्ता १।१॥ षट् १।१॥ स०—षश्च नश्च=ष्णौ, ष्णौ अन्ते यस्याः सा ष्णान्ता, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—संख्या ॥ अर्थः—षकारान्ता नकारान्ता च या संख्या सा षट्संज्ञिका भवति ॥ उदा०—षकारान्ता—षट् तिष्ठन्ति, षट् पश्य। नकारान्ता—पञ्च सप्त नव दश ॥

भाषार्थः—[ष्णान्ता] षकारान्त तथा नकारान्त जो संख्यावाची शब्द हैं,उनकी [षट्] षट् संज्ञा होती है ॥

यहां से 'षट्' की अनुवृत्ति १।१।२४ तक जाती है ॥

डति च ॥१।१।२४॥

डति १।१॥ च अ० ॥ अनु०—षट्, संख्या ॥ अर्थः—डतिप्रत्ययान्ता संख्या षट्संज्ञिका भवति ॥ उदा०—कति तिष्ठन्ति, कति पश्य ॥

भाषार्थः—[डति] डतिप्रत्ययान्त संख्यावाची शब्द की [च] भी षट् संज्ञा होती है ॥ कति की सिद्धि परि० १।१।२२॥ में देखें। यहां कति के आगे पूर्ववत् जस् या शस् आया, तो प्रकृत सूत्र से षट्संज्ञा होने से षड्भ्यो लुक् (७।१।२२) से लुक् हो गया, यही षट् संज्ञा का प्रयोजन है ॥

क्तक्तवतू निष्ठा ॥१।१।२५॥

क्तक्तवतू १।२॥ निष्ठा १।१॥ स०–क्तश्च क्तवतुश्च=क्तक्तवतू इतरेतरयोग-द्वन्द्वः ॥ **अर्थः**—क्तक्तवतू प्रत्ययौ निष्ठासंज्ञकौ भवतः ॥ **उदा०**—पठितः, पठितवान् । चितः चितवान् । स्तुतः स्तुतवान् । भिन्नः भिन्नवान् । पक्वः पक्ववान् ॥

भाषार्थः—[क्तक्तवतू] **क्त और क्तवतु प्रत्ययों की [निष्ठा] निष्ठा संज्ञा होती है ॥**

सर्वादीनि सर्वनामानि ॥१।१।२६॥

सर्वादीनि १।३॥ सर्वनामानि १।३॥ स०—सर्व आदिर्येषां तानीमानि सर्वादीनि, बहुव्रीहिसमासः ॥ **अर्थः**—सर्वादिशब्दानां सर्वनामसंज्ञा भवति ॥ **उदा०**—सर्वे, सर्वस्मै, सर्वस्मात्, सर्वस्मिन्, सर्वेषाम्, सर्वकः । विश्वे, विश्वस्मै, विश्वस्मात्, विश्वस्मिन्, विश्वेषाम्, विश्वकः ॥

भाषार्थः—[सर्वादीनि] **सर्वादिगण[1] में पढे शब्दों की [सर्वनामानि] सर्वनाम-संज्ञा होती है ॥**

यहां से 'सर्वनामानि' की अनुवृत्ति १।१।३५ तक जाती है, तथा 'सर्वादीनि' की अनुवृत्ति १।१।३१ तक जाती है ॥

विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ ॥१।१।२७॥

विभाषा १।१॥ दिक्समासे ७।१॥ बहुव्रीहौ ७।१॥ स० – दिशां समासः दिक्-समासः, तस्मिन् दिक्समासे, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ **अनु०**—सर्वादीनि, सर्वनामानि ॥ **अर्थः**—दिक्समासे बहुव्रीहौ सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञकानि विभाषा भवन्ति ॥ **उदा०**—उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै । दक्षिणपूर्वस्यै, दक्षिणपूर्वायै । उत्तरपूर्वस्याः, उत्तर-पूर्वायाः । दक्षिणपूर्वस्याः, दक्षिणपूर्वायाः ॥

भाषार्थः – [दिक्समासे] **दिशावाची** [बहुव्रीहौ] **बहुव्रीहि समास में सर्वादियों की सर्वनाम संज्ञा** [विभाषा] **विकल्प से होती है ॥**

आगे न बहुव्रीहौ (१।१।२८) से बहुव्रीहि समास में सर्वनाम संज्ञा का नित्य प्रतिषेध करेंगे, पर यहां दिगुपदिष्ट (२।२।२६) बहुव्रीहि समास में विकल्प से सर्व-नाम संज्ञा हो, इसके लिये यह सूत्र है ॥

न बहुव्रीहौ ॥१।१।२८॥

न अ० ॥ बहुव्रीहौ ७।१॥ अनु०—सर्वादीनि, सर्वनामानि ॥ **अर्थः**—बहुव्रीहौ

---

१. सब गणशब्द गणपाठ में देखें, जो काशिका में भी तत्तत् सूत्र में दिखायें हैं ॥

समासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञकानि न भवन्ति ॥ उदा०—प्रियविश्वाय, प्रियोभयाय । द्व्यन्याय, त्र्यन्याय ॥

भाषार्थः—[बहुव्रीहौ] बहुव्रीहि समास में सर्वादियों की सर्वनाम संज्ञा [न] नहीं होती ॥

यहां से 'न' की अनुवृत्ति १।१।३१ तक जाती है ॥

तृतीयासमासे ॥ १।१।२९॥

तृतीयासमासे ७।१॥ स०—तृतीयायाः समासः=तृतीयासमासः, तस्मिन् तृतीयासमासे, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—न, सर्वादीनि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—तृतीयासमासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञकानि न भवन्ति ॥ उदा०—मासपूर्वाय, संवत्सरपूर्वाय । द्व्यहपूर्वाय, त्र्यहपूर्वाय ॥

भाषार्थः—[तृतीयासमासे] तृतीया तत्पुरुष समास में सर्वादियों की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती ॥

द्वन्द्वे च ॥१।१।३०॥

द्वन्द्वे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—न, सर्वादीनि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—द्वन्द्वे समासे सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञकानि न भवन्ति ॥ उदा०—पूर्वापराणाम् । दक्षिणोत्तरपूर्वाणाम् । कतरकतमानाम् ॥

भाषार्थः—[द्वन्द्वे] द्वन्द्व समास में [च] भी सर्वादियों की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती ॥

यहां से 'द्वन्द्वे' की अनुवृत्ति १।१।३१ तक जायगी ॥

विभाषा जसि ॥१।१।३१॥

विभाषा १।१॥ जसि ७।१॥ अनु०—द्वन्द्वे, न, सर्वादीनि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—द्वन्द्वे समासे जसि सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञकानि विभाषा न भवन्ति ॥ उदा०—कतरकतमे कतरकतमाः । दक्षिणपूर्वे दक्षिणपूर्वाः ॥

भाषार्थः—द्वन्द्व समास में सर्वादियों की सर्वनामसंज्ञा [जसि] जस् सम्बन्धी कार्य में [विभाषा] विकल्प से नहीं होती ॥

यहां से 'विभाषा जसि' की अनुवृत्ति १।१।३४ तक जाती है ॥

प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च ॥१।१।३२॥

प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः १।३ ॥ च अ० ॥ स०—प्रथमश्च चरमश्च

तयश्च अल्पश्च अर्धश्च कतिपयश्च नेमश्च=प्रथम···नेमाः,इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०-विभाषा जसि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—प्रथम, चरम, तयप्प्रत्ययान्त, अल्प, अर्ध, कतिपय, नेम इत्येते शब्दा जसि विभाषा सर्वनामसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—प्रथमे प्रथमाः। चरमे चरमाः। द्वितये द्वितयाः। अल्पे अल्पाः। अर्धे अर्धाः। कतिपये कतिपयाः। नेमे नेमाः ॥

भाषार्थः—[प्रथम···नेमाश्च] प्रथम, चरम, तयप्प्रत्ययान्त शब्द, अल्प, अर्ध, कतिपय तथा नेम इन शब्दों की जस्-सम्बन्धी कार्य में विकल्प करके सर्वनाम संज्ञा होती है ॥

उदा०—प्रथमे प्रथमाः (पहिले)। चरमे चरमाः (अन्तिम)। द्वितये द्वितयाः (दो अवयववाले)। अल्पे अल्पाः (न्यून)। अर्धे अर्धाः (आधे)। कतिपये कतिपयाः (कई एक)। नेमे नेमाः (आधे)। यहां सर्वनामसंज्ञा पक्ष में सर्वत्र पूर्ववत् जसः शी (७।१।१७) से 'शी' होकर 'प्रथमे' आदि बनता है। तथा दूसरे पक्ष में जब सर्वनाम संज्ञा न हुई, तो 'प्रथमाः' आदि बना। परिशिष्ट १।१।३१ के समान ही सिद्धियाँ जानें ॥ 'द्वितये' इस उदाहरण में संख्याया अवयवे तयप् (५।२।४२) से तयप् हो जाता है ॥

पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् ॥१।१।३३॥

पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि १।३ ॥ व्यवस्थायाम् ७।१ ॥ असंज्ञायाम् ७।१॥ स०—पूर्वं च परं च अवरं च दक्षिणं च उत्तरं च अपरं च अधरञ्च=पूर्वपरावर······धराणि, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। न संज्ञा असंज्ञा, तस्याम् असंज्ञायाम्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—विभाषा जसि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर इत्येतानि जसि विभाषा सर्वनामसंज्ञकानि भवन्ति संज्ञाभिन्नव्यवस्थायाम् ॥ उदा०—पूर्वे पूर्वाः, परे पराः, अवरे अवराः, दक्षिणे दक्षिणाः, उत्तरे उत्तराः, अपरे अपराः। अधरे अधराः ॥

भाषार्थः—[पूर्व······धराणि] पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर इन शब्दों की जस्-सम्बन्धी कार्य में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है, [व्यवस्थायामसंज्ञायाम्] संज्ञा से भिन्न व्यवस्था हो तो ॥

उदा०—पूर्वे पूर्वाः (पूर्व वाले)। परे पराः (बादवाले)। अवरे अवराः (पहिले वाले)। दक्षिणे दक्षिणाः (दक्षिण वाले)। उत्तरे उत्तराः (उत्तरवाले)। अपरे अपराः (दूसरे)। अधरे अधराः (नीचे वाले)। सिद्धियां सब पूर्ववत् जानें। सर्वनाम संज्ञा पक्ष में जसःशी (७।१।१७) से जस् को शी हो जाता है ॥

स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् ॥१।१।३४॥

स्वम् १।१॥ अज्ञातिधनाख्यायाम् ७।१॥ स०—ज्ञातिश्च धनं च ज्ञातिधने, ज्ञातिधनयोः आख्या ज्ञातिधनाख्या, द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः । न ज्ञातिधनाख्या अज्ञातिधनाख्या, तस्याम् अज्ञातिधनाख्यायाम्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—विभाषा जसि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—अनेकार्थोऽयं 'स्व'शब्दः, ज्ञाति-धन-आत्मीयवाची । ज्ञातिधनाभिधानभिन्नस्य स्वशब्दस्य जसि विभाषा सर्वनामसंज्ञा भवति ॥ उदा०—स्वे पुत्राः, स्वाः पुत्राः । स्वे गावः, स्वा गावः । आत्मीया इत्यर्थः ॥

भाषार्थः—[स्वम्] स्व शब्द की जस् सम्बन्धी कार्य में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है, [अज्ञातिधनाख्यायाम्] ज्ञाति तथा धन की आख्या को छोड़कर ॥ 'स्व' शब्द के अनेकार्थवाची होने से सब अर्थों में सर्वनाम संज्ञा ही प्राप्त थी । अतः ज्ञाति और धन को छोड़कर कहा । अर्थात् ज्ञाति और धन को कहने में सर्वनाम संज्ञा न हो, अन्य अर्थों में हो ॥

उदा०—स्वे पुत्राः, स्वाः पुत्राः (अपने पुत्र) । स्वे गावः, स्वाः गावः (अपनी गायें) । सिद्धि पूर्ववत् ही जानें ॥

अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ॥१।१।३५॥

अन्तरम् १।१॥ बहिर्योगोपसंव्यानयोः ७।२॥ बहिरित्यनेन योगः=बहिर्योगः, उपसंवीयत इत्युपसंव्यानम् ॥ स०—बहिर्योगश्च उपसंव्यानं च=बहिर्योगोपसंव्याने तयोः बहिर्योगोपसंव्यानयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—विभाषा जसि, सर्वनामानि ॥ अर्थः—बहिर्योगे उपसंव्याने च गम्यमानेऽन्तरशब्दस्य जसि विभाषा सर्वनाम-संज्ञा भवति ॥ उदा०—बहिर्योगे—अन्तरे गृहाः, अन्तरा गृहाः । उपसंव्याने—अन्तरे शाटकाः, अन्तराः शाटकाः ॥

भाषार्थः—[बहिर्योगोपसंव्यानयोः] बहिर्योग तथा उपसंव्यान गम्यमान होने पर [अन्तरम्] अन्तर शब्द की जस् सम्बन्धी कार्य में विकल्प करके सर्वनाम संज्ञा होती है ॥

उदा०—अन्तरे गृहाः, अन्तरा गृहाः (नगर या ग्राम के बाहर चाण्डालादिकों के गृह) । अन्तरे शाटकाः, अन्तराः शाटकाः (परिधानीय=अन्दर पहिनने का वस्त्र, इसमें चादर नहीं ली जायेगी) । सिद्धि पूर्ववत् ही जानें ॥

स्वरादिनिपातमव्ययम् ॥१।१।३६॥

स्वरादिनिपातम् १।१॥ अव्ययम् १।१॥ स०—स्वर् आदिर्येषां ते स्वरादयः,

६ निपात, ६ स्वर... ३३ = अव्यय

स्वरादयश्च निपाताश्च स्वरादिनिपातम्, बहुव्रीहिगर्भः समाहारद्वन्द्वसमासः ॥ अर्थः— स्वरादिशब्दरूपाणि निपाताश्चाव्ययसंज्ञकानि भवन्ति ॥ उदा०—स्वरादिः—स्वर् प्रातर् । निपाताः—च, वा, ह ॥ प्राग्रीश्वरान्निपाताः (१।४।५६) इत्यतः अधिरीश्वरे (१।४।९६) इति यावत् निपातसंज्ञां वक्ष्यति । तेषां निपातानामत्राव्ययसंज्ञा वेदितव्या ॥

भाषार्थः—[स्वरादिनिपातम्] स्वरादिगणपठित शब्दों को, तथा निपातों की [अव्ययम्] अव्यय संज्ञा होती है ॥ प्राग्रीश्वरान्निपाताः से लेकर अधिरीश्वरे तक निपात संज्ञा कही है । उन निपातों की यहां अव्यय संज्ञा भी कहते हैं ॥

उदा०—स्वर् (सुख) । प्रातर् (प्रातः) । च (और) । वा (अथवा) । ह (निश्चय से) ॥ यहां सर्वत्र अव्यय संज्ञा होने से स्वादि विभक्तियों का अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से लुक् (= अदर्शन) हो जाता है । यही अव्यय संज्ञा का प्रयोजन है ॥

यहां से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति १।१।४० तक जाती है ॥

अल्प-विभक्ति तद्धित = अव्यय

तद्धितश्चासर्वविभक्तिः ॥१।१।३७॥

तद्धितः १।१॥ च अ० ॥ असर्वविभक्तिः १।१॥ स०—नोत्पद्यते सर्वा विभक्तिर्यस्मात् सोऽसर्वविभक्तिस्तद्धितः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अव्ययम् ॥ अर्थः—असर्वविभक्तिस्तद्धितप्रत्ययान्तः शब्दोऽव्ययसंज्ञको भवति ॥ उदा०—ततः । यतः । तत्र । यत्र । तदा । यदा । सर्वदा । सदा । विना । नाना ॥

भाषार्थः—[असर्वविभक्तिः] जिससे सारी विभक्ति (=त्रिक) उत्पन्न न हो, ऐसे [तद्धितः] तद्धितप्रत्ययान्त शब्द की [च] भी अव्यय संज्ञा होती है ॥

यहां महाभाष्यकार ने अव्यय संज्ञा के प्रयोजक तद्धित-प्रत्ययों का परिगणन किया है, जो इस प्रकार है—तसिलादयः प्राक् पाशपः (पञ्चम्यास्तसिल् ५।३।७) से लेकर (याप्ये पाशप् ५।३।४७) तक । शस्प्रभृतिभ्यः प्राक् समासान्तेभ्यः (बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम् ५।४।४२) से लेकर (समासान्ताः ५।४।६८) तक । मान्तः—अम्, आम् (अमु च च्छन्दसि ५।४।१२, किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ५।४।११) । तसिवती—(तसिश्च ४।३।११३, तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ५।१।११४) । कृत्वोऽर्थाः—(संख्यायाः क्रियाऽभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् ५।४।१७, द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ५।४।१८, विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले ५।४।२०)। नानाञौ—ना नाञ् (विनञ्भ्यां नानाञौ न सह ५।२।२७) ॥

कृन्मेजन्तः ॥१।१।३८॥

कृत् १।१॥ मेजन्तः १।१॥ स०—मश्च एच् च मेचौ, मेचावन्तेऽस्य स मेजन्तः, बहुव्रीहिः ॥ **अनु०**—अव्ययम् ॥ **अर्थः**—कृद् यो मकारान्त एजन्तश्च, तदन्तं शब्दरूपमव्ययसंज्ञकं भवति ॥ **उदा०**—अस्वाद्वीं स्वाद्वीं कृत्वा भुङ्क्ते=स्वादुंकारं भुङ्क्ते। सम्पन्नंकारं भुङ्क्ते। लवणंकारं भुङ्क्ते। उदरपूरं भुङ्क्ते। एजन्तः-- वक्षे रायः। ता वामेषे रथानाम्। क्रत्वे दक्षाय जीवसे। ज्योक् च सूर्यं दृशे। म्लेच्छितवै ॥

भाषार्थः—[कृत्] **कृत् जो** [मेजन्तः] **मकारान्त तथा एजन्त, तदन्त शब्दरूप की अव्यय संज्ञा होती है ॥**

क्त्वातोसुन्कसुनः ॥१।१।३९॥

क्त्वातोसुन्कसुनः १।३॥ स०—क्त्वा च तोसुंश्च कसुंश्च क्त्वातोसुन्कसुनः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—अव्ययम्॥ **अर्थः**—क्त्वा तोसुन् कसुन् इत्येवमन्ताः शब्दा अव्ययसंज्ञका भवन्ति ॥ **उदा०**—क्त्वा—पठित्वा, चित्वा, जित्वा, कृत्वा, हृत्वा। **तोसुन्—पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः** (का० सं० ८।३)। कसुन्—**पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्** (य० १।२८) ॥

भाषार्थः—[क्त्वातोसुन्कसुनः] **क्त्वा तोसुन् कसुन् प्रत्ययान्त शब्दों की अव्यय संज्ञा होती है ॥**

अव्ययीभावश्च ॥१।१।४०॥

अव्ययीभावः १।१॥ च अ० ॥ **अनु०**—अव्ययम् ॥ **अर्थः**—अव्ययीभावसमासोऽव्ययसंज्ञको भवति ॥ **उदा०**—उपाग्नि, प्रत्यग्नि, अधिस्त्रि ॥

भाषार्थः—[अव्ययीभावः] **अव्ययीभाव समास की** [च] **भी अव्यय संज्ञा** होती है ॥

शि सर्वनामस्थानम् ॥१।१।४१॥

शि १।१॥ सर्वनामस्थानम् १।१॥ **अर्थः**—शि=जश्शसोः शिः (७।१।२०) इत्यनेन यः 'शिः' आदेशः, तस्य सर्वनामस्थानसंज्ञा भवति ॥ **उदा०**—कुण्डानि, वनानि। दधीनि, मधूनि। त्रपूणि, जतूनि ॥

भाषार्थः—[शि] 'शि' की [सर्वनामस्थानम्] **सर्वनामस्थान संज्ञा होती है ॥** जश्शसोः शिः (७।१।२०) **से जो जस् और शस् के स्थान में 'शि' आदेश होता है, उसका यहां ग्रहण है ॥**

यहां से 'सर्वनामस्थानम्' की अनुवृत्ति १।१।४२ **तक जाती है ॥**

सुडनपुंसकस्य ॥१।१।४२॥

सुट् १।१॥ अनपुंसकस्य ६।१॥ स०—न नपुंसकम्=अनपुंसकम्, तस्यानपुंसकस्य, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—सर्वनामस्थानम् ॥ अर्थः—नपुंसकभिन्नसम्बन्धी यः सुट् तस्य सर्वनामस्थानसंज्ञा भवति ॥ 'सुट्' इत्यनेन सु इत्यारभ्य औट्पर्यन्तं प्रत्याहारो गृह्यते। तत्र च, सु औ जस् अम् औट् इति पञ्च प्रत्ययाः समाविष्टाः सन्ति ॥ उदा०—राजा राजानौ राजानः राजानम् राजानौ ॥

भाषार्थः—[अनपुंसकस्य] नपुंसकलिङ्ग से भिन्न जो [सुट्] सुट् उसकी सर्वनामस्थान संज्ञा होती है ॥ यहां सु से लेकर औट् पर्यन्त पांच प्रत्ययों का सुट् प्रत्याहार से ग्रहण है ॥

न वेति विभाषा ॥१।१।४३॥

न अ० ॥ वा अ० ॥ इति अ० ॥ विभाषा १।१॥ अर्थः—'न' इति निषेधार्थः, 'वा' इति विकल्पार्थः, अनयोर्निषेधविकल्पार्थयोर्विभाषा संज्ञा भवति॥ उदा०—शुशाव, शिश्वाय। शुशुवतुः, शिश्वियतुः। दक्षिणपूर्वस्यै, दक्षिणपूर्वायै ॥

भाषार्थः—[न वेति] न=निषेध, वा=विकल्प इन अर्थों की [विभाषा] विभाषा संज्ञा होती है ॥

विशेषः—यहां 'न' और 'वा' इन शब्दों की विभाषा संज्ञा नहीं होती, अपितु 'न' का अर्थ जो निषेध, 'वा' का अर्थ जो विकल्प, इन अर्थों की विभाषा संज्ञा होती है। सूत्रों में 'इति' पद जहां लगता है, वहां उस शब्द के अर्थ का बोध कराता है, स्वरूप का नहीं। अतः यहां नवेति में 'इति' शब्द अर्थ का बोधक है ॥

इग्यणः सम्प्रसारणम् ॥१।१।४४॥

इक् १।१॥ यणः ६।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ अर्थः—यणः (—य् व् र् ल्) स्थाने य इक् (=इ उ ऋ लृ) (भूतो भावी वा) तस्य सम्प्रसारणसंज्ञा भवति ॥ उदा०—उक्तः, उक्तवान्। सुप्तः, सुप्तवान्। इष्टः, इष्टवान्। गृहीतः, गृहीतवान्॥

भाषार्थः—[यणः] यण् के स्थान में जो [इक्] इक् वह [सम्प्रसारणम्] सम्प्रसारणसंज्ञक होता है ॥

यहां यण् के स्थान में जो इक् वर्ण उसकी, तथा 'यण्' के स्थान में जो इक् करना इस वाक्यार्थ की भी सम्प्रसारण संज्ञा होती है ॥

आदि ट्-इत् **[परिभाषा-प्रकरणम्]**

अन्त क्-इत् **आद्यन्तौ टकितौ ॥१।१।४५॥**

आद्यन्तौ १।२॥ टकितौ १।२॥ स०—आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। टश्च कश्च टकौ, टकौ इतौ ययोरिति टकितौ, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः॥ **अर्थः**—षष्ठीनिर्दिष्टस्य 'टित्' आगम आदिर्भवति, 'कित्' आगमोऽन्तो भवति॥ **उदा०**—टित्—पठिता, भविता। कित्—त्रापुषम्, जातुषम्। जटिलो भीषयते, मुण्डो भीषयते॥

भाषार्थः—**षष्ठीनिर्दिष्ट को जो** [टकितौ] **टित् आगम तथा कित् आगम कहा गया हो, वह क्रम से उसका** [आद्यन्तौ] **आदि और अन्त अवयव हो॥**

यहां भविता में तास् आर्धधातुक को आर्धधातुकस्येड्वलादेः (७।२।३५) **से कहा हुआ 'इट्' उसका आदि अवयव बनता है, और भीषयते में षुक् 'भी' का अन्तिम अवयव बनता है॥ यह सूत्र** षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८) **का पूर्व अपवाद है॥**

अन्त्य अच् + मित् **मिदचोऽन्त्यात् परः ॥१।१।४६॥**

मित् १।१॥ अचः ६।१॥ अन्त्यात् ५।१॥ परः १।१॥ स०—म इत् यस्य स मित्, बहुव्रीहिः॥ अन्ते भवः अन्त्यः, तस्मात् अन्त्यात्॥ **अर्थः**—अचां सन्निविष्टानां योऽन्त्योऽच् तस्मात् परो मित् भवति॥ **उदा०**—भिनत्ति, छिनत्ति। रुणद्धि। मुञ्चन्ति। वन्दे मातरम्। कुण्डानि, वनानि। यशांसि, पयांसि॥

भाषार्थः—[अचः] **अचों के बीच में जो** [अन्त्यात्] **अन्तिम अच् उससे** [परः] **परे** [मित्] **मित् (मकार जिसका इत् हो) होता है॥ यह सूत्र आगे आनेवाले १।१।४८, तथा** प्रत्ययः परश्च (३।१।१,२) **सूत्रों का अपवाद है। प्रत्यय होने के कारण 'श्नम्' आदियों को परे होना चाहिये था, पर इस सूत्र से मित् होने से अन्त्य अच् से परे हो जाता है॥**

ए ऐ → इ

एच इग्घ्रस्वादेशे ॥१।१।४७॥ ओ औ → उ

एचः ६।१॥ इक् १।१॥ ह्रस्वादेशे ७।१॥ स०—ह्रस्वश्चासावादेशश्च ह्रस्वादेशः, कर्मधारयः॥ **अर्थः**—एचः स्थाने ह्रस्वादेशे कर्त्तव्ये इग् एव ह्रस्वो भवति, नान्यः॥ **उदा०**—अतिरि कुलम्। अतिनु कुलम्। उपगु॥

भाषार्थः—[एचः] **एच् के स्थान में** [ह्रस्वादेशे] **ह्रस्वादेश करने में** [इक्] **इक् ही ह्रस्व हो। अन्य नहीं॥ इस सूत्र की प्रवृत्ति नियमरूप से होती है, विधिरूप से नहीं। नियम प्राप्तिपूर्वक होता है, अतः एच् के स्थान में जो अन्तरतम (अ,इ,उ) प्राप्त हुए, उन्हीं का नियम किया गया। इस प्रकार यहां यथासंख्य आदेश नहीं होता॥**

षष्ठी स्थानेयोगा ॥१।१।४८॥

षष्ठी १।१॥ स्थानेयोगा १।१॥ स०—स्थाने योगोऽस्याः सेयं स्थानेयोगा, बहुव्रीहिः । अत्र निपातनात् सप्तम्या अलुग् भवति ॥ अर्थः—अस्मिन् शास्त्रे अनियतयोगा (=अनियतसम्बन्धा) षष्ठी स्थानेयोगा मन्तव्या ॥ उदा०—भविता, भवितुम्, भवितव्यम् । वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम् । दध्यत्र, मध्वत्र, पित्रर्थम्, लाकृतिः ॥

भाषार्थः—इस शास्त्र में अनियतयोगा (जिस षष्ठी का सम्बन्ध कहीं न जुड़ता हो वह) [षष्ठी] षष्ठी [स्थानेयोगा] स्थानेयोगा=स्थान के साथ सम्बन्धवाली होती है ॥

षष्ठी के अनेक अर्थ होते हैं । जैसे—समीप, विकार, अवयव, स्व-स्वाम्यादि । उनमें से शब्द में जितने अर्थ सम्भव हैं, उन सभी के प्राप्त होने पर यह नियम किया गया है । जिस षष्ठी का कोई सम्बन्ध न जुड़ता हो, वह अनियतयोगा षष्ठी कहलाती है । उसका 'स्थाने' शब्द के साथ सम्बन्ध होता है ॥

यहां से 'स्थाने' की अनुवृत्ति १। १। ५० तक जाती है, तथा 'षष्ठी' पद की अनुवृत्ति १।१।५४ तक जाती है ॥

स्थानेऽन्तरतमः ॥१।१।४९॥

स्थाने ७।१॥ अन्तरतमः १।१॥ सर्वे इमेऽन्तराः, अयमेषामतिशयेनान्तरः= अन्तरतमः=सदृशतमः । अतिशायने तमबिष्ठनौ (५।३।५५) इति तमप् प्रत्ययः ॥ अनु०—स्थाने ॥ अर्थः—स्थाने प्राप्यमाणानामन्तरतमः=सदृशतम आदेशो भवति ॥ आन्तर्यं चतुर्विधं भवति—स्थानकृतम्, अर्थकृतम्, गुणकृतम्, प्रमाणकृतञ्चेति ॥ उदा०—स्थानकृतम्—दण्डाग्रम् दधीदम् भानूदयः । अर्थकृतम्—अभवताम्, वातण्डयुवतिः । गुणकृतम्—भागः यागः त्यागः । प्रमाणकृतम्=अमुष्मै, अमूभ्याम् ॥

भाषार्थः—[स्थाने] स्थान में प्राप्त होनेवाले आदेशों में जो स्थानी के [अन्तरतमः] सदृशतम=सब से अधिक समान हो, वह आदेश हो ॥

उरण्रपरः ॥१।१।५०॥

उः ६।१॥ अण् १।१॥ रपरः १।१॥ स०—रः परो यस्मात् स रपरः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—स्थाने ॥ अर्थः—ऋवर्णस्य स्थाने अण् (अ इ उ) प्रसज्यमान एव रपरो भवति ॥ उदा०—कर्ता हर्ता । कारकः हारकः । किरति गिरति । द्वैमातुरः त्रैमातुरः ॥

भाषार्थः—[उः] ऋवर्ण के स्थान में [अण्] अण् (अ-इ-उ में से कोई अक्षर) प्राप्त हो, तो वह होते-होते ही [रपरः] रपरेवाला हो जाता है ॥

यहां जब ऋ के स्थान में गुण वृद्धि प्राप्त होते हैं, तब ऋ का अन्तरतम (=सदृशतम) इनमें से कोई है नहीं, तो प्रकृत सूत्र से अ आ (अण्) होते-होते रपर होकर अर् आर् बन जाते हैं। सो स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४६) सूत्र लगकर अर् आर् गुण और वृद्धि होते हैं। यह बात समझ लेने की है कि गुण या वृद्धि होते-होते अ आ रपर होते हैं, होने के पश्चात् नहीं ॥

अलोऽन्त्यस्य ॥१।१।५१॥

अलः ६।१॥ अन्त्यस्य ६।१॥ अनु०—षष्ठी ॥ अर्थः—षष्ठीनिर्दिष्टस्य य आदेश उच्यते, सोऽन्त्यस्यालः स्थाने भवति ॥ उदा०—द्यौः। सः। पञ्चगोणिः ॥

भाषार्थः—षष्ठी विभक्ति से निर्दिष्ट को जो आदेश कहा जाता है, वह [अन्त्यस्य] अन्त्य [अलः] अल् के स्थान में होता है॥ यह सूत्र षष्ठी स्थानेयोगा (१।१।४८) से प्राप्त कार्य का अनुसंहार अन्तिम अल् में करता है ॥

यहां से 'अलः' की अनुवृत्ति १।१।५३, तथा 'अन्त्यस्य' की अनुवृत्ति १।१।५२ तक जाती है॥

ङिच्च ॥१।१।५२॥

ङित् १।१॥ च अ० ॥ स०—ङ् इत् यस्य स ङित्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अलोऽन्त्यस्य, षष्ठी ॥ अर्थः—षष्ठीनिर्दिष्टस्य यो ङिदादेशः, सोऽन्त्यस्यालः स्थाने भवति ॥ अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४) इति वक्ष्यति, तस्यायं पुरस्तादपवादः। अर्थादनेकालपि सन् ङिदादेशोऽन्त्यस्यालः स्थाने भवति, न तु सर्वस्य ॥ उदा०—चेता, नेता। मातापितरौ। होतापोतारौ ॥

भाषार्थः—[ङित्] ङित् आदेश [च] भी अन्त्य अल् के स्थान में होता है॥ अनेकाल्शित् सर्वस्य (१।१।५४) की प्राप्ति में यह पूर्व अपवाद सूत्र है। अर्थात् अनेकाल् होने पर भी ङित् आदेश सब के स्थान में न होकर अन्त्य अल् के स्थान में ही होता है॥

आदेः परस्य ॥१।१।५३॥

आदेः ६।१॥ परस्य ६।१॥ अनु०—अलः, षष्ठी ॥ अर्थः—परस्योच्यमानं कार्यं तस्यादेरलः स्थाने भवति ॥ तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) इति परस्य कार्यं शिष्यते ॥ अलोऽन्त्यस्यायमपवादः ॥ उदा०—आसीनः। द्वीपम्, अन्तरीपम्, समीपम् ॥

भाषार्थः—[परस्य] पर को कहा हुआ कार्य, उसके [आदेः] आदि अल् के स्थान में हो ॥ तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) सूत्र से पर को कार्य कहा गया है, वह अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्तिम अल् को प्राप्त हुआ। यह सूत्र अलोऽन्त्यस्य का अपवाद है, अतः पर के अन्तिम अल् को कार्य न होकर उस के आदि अल् को हुआ ॥

अनेकाल्शित् सर्वस्य ॥१।१।५४॥

अनेकाल्शित् १।१॥ सर्वस्य ६।१॥ स०—न एकः अनेकः, नञ्तत्पुरुषः, अनेकः अल् यस्य स अनेकाल्, बहुव्रीहिः। श् इत् यस्य स शित्, बहुव्रीहिः। अनेकाल् च शिच्च अनेकाल्शित्, बहुव्रीहिगर्भः समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—षष्ठी ॥ अर्थः—अनेकाल् शिच्च य आदेशः सः सर्वस्य षष्ठीनिर्दिष्टस्य स्थाने भवति ॥ अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) इति सूत्रस्यापवादसूत्रमिदम् ॥ उदा०—अनेकाल्—भविता, भवितुम्, भवितव्यम्। पुरुषैः। शित्—कुण्डानि, वनानि ॥

भाषार्थः—[अनेकाल्शित्] अनेक अल्वाला तथा शित् जो आदेश, वह [सर्वस्य] सारे षष्ठी-निर्दिष्ट के स्थान में होता है ॥ यह सूत्र अलोऽन्त्यस्य(१।१।५१) का अपवाद है। अर्थात् षष्ठी-निर्दिष्ट को कहे गये सब आदेश अन्त्य अल् के स्थान में उस सूत्र से प्राप्त थे, इसने अनेकाल् तथा शित् आदेशों को सब के स्थान में हों, ऐसा कह दिया ॥

[अतिदेश-प्रकरणम्]

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥१।१।५५॥

स्थानिवत् अ०॥आदेशः १।१॥ अनल्विधौ ७।१॥स०—'अल्विधौ' इत्यत्रार्थानुरोधात् चतुर्विधः समासः—अलः (५।१) परस्य विधिः=अल्विधिः, पञ्चमीतत्पुरुषः। अलः (६।१) स्थाने विधिः=अल्विधिः, षष्ठीतत्पुरुषः। अलि विधिः=अल्विधिः, सप्तमीतत्पुरुषः। अला विधिः=अल्विधिः, तृतीयातत्पुरुषः। न अल्विधिः अनल्विधिः, तस्मिन् अनल्विधौ, नञ्तत्पुरुषः ॥ स्थानमस्यास्तीति स्थानी अत इनिठनौ (५।२।११५) इत्यनेन 'इनिः' प्रत्ययः, स्थानिना तुल्यं स्थानिवत् तेन तुल्यं० (५।१।११४) इत्यनेन वतिप्रत्ययः ॥ अर्थः—आदेशः स्थानिवद् भवति, अल्विधिं वर्जयित्वा ॥ तत्रादेशाः प्रायः अष्टविधा भवन्ति—धातु-अङ्ग-कृत्-तद्धित-अव्यय-सुप्-तिङ्-पदादेशाः ॥ उदा०-धात्वादेशः—भविता, भवितुम्, भवितव्यम्। वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम्। अङ्गादेशः—केन, काभ्याम्, कैः। कृदादेशः—प्रकृत्य, प्रहृत्य। तद्धितादेशः—दध्नि संस्कृतम्=दाधिकम्, अद्यतनम्। अव्ययादेशः—प्रकृत्य, प्रहृत्य।

सुबादेशः पुरुषाय, वृक्षाय । तिङादेशः—अकुरुताम्, अकुरुतम् । पदादेशः—ग्रामो नः स्वम्, ग्रामो वः स्वम् । अल्विधौ स्थानिवत् न भवति । तद्यथा—अलः (५।१) विधिः—द्यौः, पन्थाः सः । अलः (६।१) विधिः—द्युकामः । अलि (७।१) विधिः—क इष्टः । अला (३।१) विधिः—महोरस्केन, व्यूढोरस्केन ॥

भाषार्थः—जिसके स्थान में हो वह स्थानी, जो किया जाये वह आदेश कहाता है ॥ [आदेशः] आदेश [स्थानिवत्] स्थानी के तुल्य माना जाता है [अनल्विधौ] अल्विधि को छोड़कर ॥

आदेश प्रायः आठ प्रकार के होते है—(१)धातु = धातु का आदेश धातुवत् होता है, (२) अङ्ग=अङ्ग का आदेश अङ्गवत् होता है, (३) कृत्=कृत् का आदेश कृत्वत् होता है, (४)तद्धित=तद्धित का आदेश तद्धितवत् होता है,(५) अव्यय= अव्यय का आदेश अव्ययवत् होता है, (६) सुप्=सुप् का आदेश सुप्वत् होता है, (७) तिङ्=तिङ् का आदेश तिङ्वत् होता है, (८) पद=पद का आदेश पदवत् होता है ॥

अल्विधि में चार प्रकार का समास है—

पञ्चमी तत्पुरुष—अल् से परे विधि । षष्ठीतत्पुरुष अल् के स्थान में विधि । सप्तमीतत्पुरुष—अल् परे रहते विधि । तृतीयातत्पुरुष—अल् के द्वारा विधि । इन सब उदाहरणों में आदेश स्थानिवत् नहीं होता ॥

इस प्रकार का व्यवहार लोक में भी देखा जाता है। जैसे एक कलेक्टर के स्थान में जो दूसरा कलेक्टर (जिलाधीश) बदल कर आता है । उस नये कलेक्टर को भी पुराने कलेक्टर के समान सारे अधिकार प्राप्त हो जाते हैं । यहां पुराना कलेक्टर स्थानी था, नया उसका आदेश, सो स्थानिवत् व्यवहार हो गया । जिस प्रकार नये कलेक्टर को खरबूजा पसन्द होता है, पर पुराने कलेक्टर को नहीं होता, अर्थात् व्यक्तिगत रुचि में वह स्थानी के तुल्य नहीं होता, उसी प्रकार यहां भी अल्विधि में स्थानिवत् नहीं होता, ऐसा समझें । आगे के अतिदेश सूत्रों में भी अतिदेश-सम्बन्धी यह बात घटा लेनी चाहिये ॥

विशेषः—अल्विधि में स्थानिवत् नहीं होता, इसके उदाहरण देना यद्यपि द्वितीयावृत्ति (शंका-समाधान) का विषय है, तथापि उसको भी यहां समझाना इसलिये अनिवार्य हो गया है कि अगला सूत्र अचः परस्मिन् पूर्वविधौ (१।१।५६) अनल्विधि का अपवाद है । अतः यहां अल्विधि में स्थानिवत् किस प्रकार नहीं होता, यह बता देना आवश्यक है । यह बात अध्यापक धीरे से समझा दें । हम तो समझ

ही देते हैं। छात्र समझ लेता है, और प्रसन्न हो उठता है। कोई न समझे तो जाने दें ॥

यहां से 'स्थानिवदादेशः' की अनुवृत्ति १।१।५८ तक जाती है ॥

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ ॥१।१।५६॥

अचः ६।१॥ परस्मिन् ७।१ [निमित्त-सप्तमी] ॥ पूर्वविधौ ७।१ [विषय-सप्तमी] ॥ स०—पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः, तस्मिन् पूर्वविधौ, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ विधानं विधिः ॥ अनु०—स्थानिवद् आदेशः ॥ अर्थः—परनिमित्तकोऽजादेशः पूर्वविधौ कर्त्तव्ये स्थानिवद् भवति ॥ स्थान्यजपेक्षयात्र पूर्वत्वम् अभिप्रेतम् ॥ पूर्वेण सूत्रेणाल्-विधौ स्थानिवद्भावस्य निषेधः प्राप्नोति, अनेन सूत्रेण पुनः प्रतिप्रसूयते ॥ उदा०—पटयति, अवधीत्, बहुखट्वकः ।

भाषार्थः—[परस्मिन्] परनिमित्तक=पर को निमित्त या कारण मानकर [अचः] अच् के स्थान में हुआ जो आदेश, वह [पूर्वविधौ] पूर्व को विधि करने में स्थानिवत् हो जाता है ॥ यहां पूर्वविधि में स्थानी से पूर्वत्व अभिप्रेत है । अर्थात्—अनादिष्ट (=स्थानी) अच् से पूर्व जो वर्ण विद्यमान था, उस की विधि (=कार्य)। पूर्व सूत्र से यहां अल्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध प्राप्त था । इस सूत्र से पुनः अल्विधि में स्थानिवद्भाव प्राप्त कराया गया है ॥

यहां से 'अचः' की अनुवृत्ति १।१।५८ तक, तथा 'परस्मिन् पूर्वविधौ' की १।१।५७ तक जाती है ॥

न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु ॥१।१।५७॥

न अ० ॥ पदान्त······विधिषु ७।३॥ स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः, अथवा पदे अन्तः पदान्तः,सप्तमीतत्पुरुषः । पदान्तश्च द्विर्वचनं च, वरे च, यलोपश्च, स्वरश्च, सवर्णश्च, अनुस्वारश्च, दीर्घश्च, जश् च, चर् च=पदान्तद्विर्वचन······चरः, एतेषां विषयः, तेषु पदान्तद्विर्वचन···विधिषु, द्वन्द्वगर्भः षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अचः परस्मिन्, स्थानिवद् आदेशः ॥ अर्थः—पदान्त-द्विर्वचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्ण-अनुस्वार-दीर्घ-जश्-चर् इत्येतेषां विधिषु परनिमित्तकोऽजादेशः स्थानिवत् न भवति ॥ उदा०—पदान्तविधौ—कौ स्तः, यौ स्तः । तानि सन्ति, यानि सन्ति ॥ द्विर्वचन-विधौ—दद्ध्यत्र, मद्ध्वत्र ॥ वरेविधौ—अप्सु यायावरः प्रवपेत पिण्डान् । यलोप-विधौ=कण्डूतिः । स्वरविधौ—चिकीर्षकः, जिहीर्षकः । सवर्णविधौ—शिण्ढि, पिण्ढि । अनुस्वारविधौ—शिंषन्ति, पिंषन्ति । दीर्घविधौ—प्रतिदीव्ना प्रतिदीव्ने । जश्विधौ—सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे, बब्धां ते हरी धानाः । चर्विधौ—जक्षतुः जक्षुः, अक्षन्न-मीमदन्त पितरः ॥

भाषार्थः—[पदान्तद्विर्वचन···विधिषु] पदान्त-द्विर्वचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्ण-अनुस्वार-दीर्घ-जश्-चर् इन की विधियों में परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् [न] नहीं होता ।। पूर्व सूत्र से स्थानिवत् प्राप्त था, उसका यह प्रतिषेध है ।।

द्विर्वचनेऽचि ॥१।१।५८॥

द्विर्वचने ७।१॥ अचि ७।१॥ अनु०—अचः, स्थानिवदादेशः ।। द्विर्वचनं च द्विर्वचनं च इति द्विर्वचनम्, तस्मिन् द्विर्वचने । सरूपाणाम्० (१।२।६४) इत्येकशेषः ।। अर्थः—द्विर्वचननिमित्तेऽचि परतोऽजादेशः स्थानिरूपो भवति, द्विर्वचन एव कर्त्तव्ये । रूपातिदेशोऽयम् ।। उदा०—पपतुः पपुः । जग्मतुः जग्मुः । चक्रतुः चक्रुः । निनय निनाय । लुलव लुलाव । आटिटत् ।।

भाषार्थः—[द्विर्वचने] द्विर्वचन का निमित्त [अचि] अजादि प्रत्यय परे हो, तो अजादेश स्थानिवत् हो जाता है, द्विर्वचन करनेमात्र में ।।

यह रूपातिदेश सूत्र है ।। पूर्व सूत्रों में कार्यातिदेश था । कार्यातिदेश उसे कहते हैं कि जो आदेश को स्थानी के तुल्य मान कर स्थानी के समान आदेश में कार्य कर दे । रूपातिदेश उसे कहते हैं कि जिसमें स्थानी का जैसा रूप हो, वैसा ही आदेश का रूप भी हो जावे ।। यह अतिदेश सूत्रों का प्रकरण समाप्त हुआ ।।

अदर्शनं लोपः ॥१।१।५९॥

अदर्शनम् १।१॥ लोपः १।१॥ स०—न दर्शनम् अदर्शनम्, नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—'इति' इत्येतत् पदं न वेति विभाषा (१।१।४३) इत्यतो मण्डूकप्लुतगत्यानुवर्त्तते ।। अर्थः—यद् भूत्वा न भवति तद् अदर्शनम् = अनुपलब्धिः वर्णविनाशस्तस्य लोप इति संज्ञा भवति, अर्थात् प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञकं भवति ।। उदा०—शालीयः । गौधेरः । पचेरन् । जीरदानुः । आस्त्रेमाणम् ।।

भाषार्थः—जो कोई वस्तु होकर न रहे, न दिखाई पड़े, उसे अदर्शन कहते हैं, अर्थात् विद्यमान के [अदर्शनम्] अदर्शन की [लोपः] लोप संज्ञा होती है ।। उसको अदर्शन नहीं कह सकते, जो कभी विद्यमान ही न रहा हो ।।

यहाँ अदर्शन के अर्थ की लोप संज्ञा होती है, न कि 'अदर्शन' शब्द की । यह बात न वेति विभाषा (१।१।४३) से मण्डूकप्लुतगति[1] द्वारा 'इति' शब्द की अनुवृत्ति लाकर होती है ।।

यहां से 'अदर्शनम्' की अनुवृत्ति १।१।६० तक जाती है ।।

---

१. मण्डूकप्लुत न्याय यह है कि जैसे मण्डूक = मेंढक कूद-कूद कर ही चलते हैं, सरक

प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः ॥१।१।६०॥

प्रत्ययस्य ६।१॥ लुक्श्लुलुपः १।३॥ स०—लुक् च श्लुश्च लुप् च=लुक्श्लुलुपः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । अनु०—अदर्शनम् । 'इति' इत्येतत् पदमत्रापि सम्बध्यते ॥ **अर्थः**—प्रत्ययस्य अदर्शनस्य लुक्-श्लु-लुप् इत्येताः संज्ञा भवन्ति ॥ **उदा०**—लुक्—विशाखः स्तौति । श्लु—जुहोति । लुप्—वरणाः पञ्चालाः ॥

भाषार्थः—[प्रत्ययस्य] **प्रत्यय के अदर्शन की** [लुक्श्लुलुपः] **लुक् श्लु तथा लुप् संज्ञाएं होती हैं ॥ यदि "लुक्" हो जाये ऐसा कहकर प्रत्यय का अदर्शन किया जाये, तो उस प्रत्ययादर्शन की लुक् संज्ञा होती है । इसी प्रकार यदि 'श्लु' द्वारा अदर्शन हो, तो उस प्रत्ययादर्शन की श्लु संज्ञा होगी । तथा 'लुप्' के द्वारा अदर्शन की लुप् संज्ञा हो जायगी । इस प्रकार लुक् श्लु लुप् इन तीनों संज्ञाओं का पृथक्-पृथक् विषय-विभाग हो जाता है । भिन्न-भिन्न प्रकार से किये गये प्रत्यय के अदर्शन होने से इन संज्ञाओं का परस्पर साङ्कर्य नहीं होता ॥**

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ॥१।१।६१॥

प्रत्ययलोपे ७।१॥ प्रत्ययलक्षणम् १।१॥ स०—प्रत्ययस्य लोपः प्रत्ययलोपः, तस्मिन् प्रत्ययलोपे, षष्ठीतत्पुरुषः । प्रत्ययो लक्षणं यस्य कार्यस्य तत् प्रत्ययलक्षणम्, बहुव्रीहिः ॥ **अर्थः**—प्रत्ययस्य लोपे सति प्रत्ययनिमित्तं (प्रत्ययहेतुकं) कार्यं भवति ॥ **उदा०**—अग्निचित् । सोमसुत् । अधोक् ॥

भाषार्थः—[प्रत्ययलोपे] **प्रत्यय के लोप हो जाने पर** [प्रत्ययलक्षणम्] **प्रत्यय-लक्षण कार्य हो जाता है, अर्थात् उस प्रत्यय को निमित्त मानकर जो कार्य पाता था, वह उसके लोप हो जाने पर (हट जाने पर) भी हो जावे ॥**

यहां लोप शब्द अदर्शनमात्र के लिये प्रयुक्त हुआ है, अतः इससे लुक्, श्लु, लुप् का ग्रहण भी होता है ॥

यहां से 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' **की अनुवृत्ति १।१।६२ तक जाती है ॥**

न लुमताऽङ्गस्य ॥१।१।६२॥

न अ० ॥ लुमता ३।१॥ अङ्गस्य ६।१॥ **अनु०—प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ॥** लु अस्मिन्नस्तीति लुमान्, तेन लुमता, **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (५।२।९४)**

कर नहीं, इसी प्रकार इस सूत्र का 'इति' पद भी बीच के सूत्रों में न बैठकर यहाँ उपस्थित हुआ है ॥

इत्यनेन मतुप् प्रत्ययः ॥ अर्थः—लुमता शब्देन प्रत्ययस्य लोपे (अदर्शने) सति तस्मिन् परतो यदङ्गं तस्य यत् प्रत्ययलक्षणं कार्यं तन्न भवति ॥ उदा०—गर्गाः, मृष्टः, जुहुतः, वरणाः ॥

भाषार्थः—[लुमता] लुक्-श्लु और लुप् इन शब्दों के द्वारा जहां प्रत्यय का अदर्शन किया गया हो, उसके परे रहते जो [अङ्गस्य] अङ्ग, उस अङ्ग को जो प्रत्यय-लक्षण कार्य प्राप्त हों, वे [न] नहीं होते। पूर्व सूत्र से प्रत्ययलक्षण कार्य प्राप्त था, सो नहीं हुआ ॥

अचोऽन्त्यादि टि ॥१।१।६३॥

अचः ६।१ [निर्धारणे षष्ठी] ॥ अन्त्यादि १।१॥ टि १।१॥ अन्ते भवोऽन्त्यः, दिगादिभ्यो यत् (४।३।५४) इत्यनेन यत् प्रत्ययः ॥ स०—अन्त्य आदिर्यस्य तद् अन्त्यादि, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—अचां मध्ये योऽन्त्योऽच्, स आदिर्यस्य समुदायस्य, स टिसंज्ञको भवति ॥ उदा०—'अग्निचित्, सोमसुत्' इत्यत्र इत्-उत् शब्दौ। पचेते, पचेथे ॥

भाषार्थः—[अचः] अचों के मध्य में जो [अन्त्यादि] अन्त्य अच्, वह अन्त्य अच् आदि है जिस (समुदाय) का उस (समुदाय) की [टि] टि संज्ञा होती है ॥

अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा ॥१।१।६४॥

अलः ५।१॥ अन्त्यात् ५।१॥ पूर्वः १।१॥ उपधा १।१॥ अर्थः—अन्त्यात् अलः पूर्वो योऽल्, स उपधासंज्ञको भवति ॥ उदा०—भेत्ता, छेत्ता ॥

भाषार्थः—[अन्त्यात्] अन्त्य [अलः] अल् से [पूर्वः] पूर्व जो अल्, उसकी [उपधा] उपधा संज्ञा होती है ॥

[परिभाषा-प्रकरणम्]

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥१।१।६५॥

तस्मिन् ७।१॥ इति अ० ॥ निर्दिष्टे ७।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ अर्थः—तस्मिन्निति =सप्तम्या विभक्त्या निर्दिष्टे सति पूर्वस्यैव कार्यं भवति ॥ इहापि इतिकरणोऽर्थ-निर्देशार्थः। तेन 'तस्मिन्' इति पदेन सप्तम्यर्थो गृह्यते, न तु तस्मिन् इति शब्दः ॥ उदा०—दध्युदकम्, मध्विदम्, पचत्योदनम् ॥

भाषार्थः—[तस्मिन् इति] सप्तमी विभक्ति से [निर्दिष्टे] निर्देश किया हुआ जो शब्द हो, उससे (अव्यवहित) [पूर्वस्य] पूर्व को ही कार्य होता है ॥ यहां भी 'इति' शब्द अर्थनिर्देश के लिये है। सो 'तस्मिन्' इस पद से 'सप्तमी

विभक्ति' का अर्थ लिया जायेगा, न कि 'तस्मिन्' यह शब्द ॥ उदा०—दध्युदकम्, मध्विदम्, पचत्योदनम् । यहां सर्वत्र इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश होता है। इस सूत्र में 'अचि' पद सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट है। सो उदकम् इदम् तथा ओदनम् अच् के परे रहते, उससे (अव्यवहित) पूर्व जो क्रमशः इ, उ, इ इन को ही यण् आदेश हुआ है ॥

यहां से 'निर्दिष्टे' की अनुवृत्ति १।१।६६ तक जायगी ॥

तस्मादित्युत्तरस्य ॥१।१।६६॥

तस्मात् ५।१॥ इति अ० ॥ उत्तरस्य ६।१॥ अनु०—निर्दिष्टे॥ अर्थः—पञ्चम्या विभक्त्या निर्दिष्टे सत्युत्तरस्यैव कार्यं भवति ॥ उदा०—आसीनः, द्वीपम्, अन्तरीपम्, समीपम्। ओदनं पचति ॥

भाषार्थः—[तस्मात् इति] पञ्चमी विभक्ति से निर्दिष्ट जो शब्द, उससे [उत्तरस्य] उत्तर को कार्य होता है ॥ 'आसीनः' 'द्वीपम्' आदि की सिद्धि परिशिष्ट १।१।५३ में दिखा ही चुके हैं। ओदनं पचति (चावल पकाता है) यहां पर तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से 'ओदनं' अतिङ् से उत्तर 'पचति' तिङ् को सर्वानुदात्त =निघात हो जाता है। यह 'अतिङः' में पञ्चमी विभक्ति है, अतः 'अतिङ्' से उत्तर पचति को स्वरकार्य हुआ ॥

स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा ॥१।१।६७॥

स्वम् १।१॥ रूपम् १।१॥ शब्दस्य ६।१॥ अशब्दसंज्ञा १।१॥ स०—शब्दस्य संज्ञा शब्दसंज्ञा, षष्ठीतत्पुरुषः, न शब्द संज्ञा अशब्दसंज्ञा, नञ्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—इह व्याकरणे यस्य शब्दस्य कार्यमुच्यते, तस्य स्वं रूपं ग्राह्यम्, न तु शब्दार्थः, न च पर्यायवाची शब्दः, शब्दसंज्ञां वर्जयित्वा ॥ उदा०—आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत् ॥

भाषार्थः—इस व्याकरणशास्त्र में [शब्दस्य] शब्द के [स्वं रूपम्] अपने रूप का ग्रहण होता है, उस शब्द के अर्थ का नहीं, न ही पर्यायवाची शब्दों का ग्रहण होगा, [अशब्दसंज्ञा] शब्दसंज्ञा को छोड़कर ॥ शब्द तथा अर्थ पृथक्-पृथक् दो वस्तु हैं। यह लौकिक रीति है कि यदि हम किसी से कहें कि "अग्निमानय=अग्नि को लाओ", तो वह "आग" ऐसा शब्द नहीं लाता, "आग" का अर्थ जो अङ्गारा है, उसे लाता है, अर्थात् अर्थ से काम लेता है, न कि शब्द से। सो यही बात कहीं व्याकरणशास्त्र में न ले ली जाये, इसलिये यह सूत्र है ॥

उदाहरण में अग्नेर्ढक् (४।२।३२) से अग्नि शब्द से ढक् प्रत्यय कहा है, न

कि अग्नि के अर्थ अंगारे=कोयले आदि से ॥ यहां पर यदि अग्नि के अर्थ से ढक् करने लगेंगे, तो सारी अष्टाध्यायी ही भस्म हो जायेगी ॥ इस सूत्र से स्वरूप-ग्रहण हो, ऐसा कहने के कारण ही यहाँ अग्नि के पर्यायवाची जो वह्नि-ज्वलन-धूमकेतु आदि शब्द हैं, उनसे भी ढक् प्रत्यय नहीं होगा ॥

यहां से 'स्वं रूपम्' की अनुवृत्ति १।१।७१ तक जाती है ॥

अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः ॥१।१।६८॥

अणुदित् १।१॥ सवर्णस्य ६।१॥ च अ० ॥ अप्रत्ययः १।१॥ स०—उत् इत् यस्य=उदित्, अण् च उदित् च=अणुदित्, बहुव्रीहिगर्भसमाहारद्वन्द्वः । न प्रत्ययः अप्रत्ययः, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—स्वं रूपम् ॥ अर्थः—अण्प्रत्याहारः उदित् च सवर्णस्य ग्राहको भवति स्वस्य च रूपस्य, प्रत्ययं वर्जयित्वा ॥ अत्र 'अण्' प्रत्याहारः परेण णकारेण गृह्यते ॥ उदा०—अस्य च्वौ (७।४।३२)। अत्र 'अकारेण' सवर्णदीर्घाकारोऽपि गृह्यते, तेन 'मालीभवति' इत्यत्रापि 'ईत्वं' सिध्यति । यस्येति च (६।४।१४८) अत्रापि 'अकारेण' सवर्ण 'आकार' ग्रहणात् 'मालीयः' अत्रापि लोपो भवति । आद्गुणः (६।१।८४) अत्रापि दीर्घस्यापि ग्रहणं भवति । तेन रमा+ईश्वरः=रमेश्वरः, अत्रापि गुणो भवति ॥ उदित्—कु (कवर्गः), चु (चवर्गः), टु (टवर्गः), तु (तवर्गः), पु (पवर्गः) ॥

भाषार्थः—[अणुदित्] अण् प्रत्याहार (यहां लण् के णकार का ग्रहण होता है), तथा उदित् (उकार इत्वाले वर्ण) अपने स्वरूप तथा अपने [सवर्णस्य] सवर्ण का [च] भी ग्रहण करानेवाले होते हैं, [अप्रत्ययः] प्रत्यय को छोड़कर ॥

पूर्व सूत्र १।१।६७ से शब्द के स्वरूप का ही ग्रहण प्राप्त था, उसका सवर्ण नहीं लिया जा सकता था, सो इस सूत्र से विधान कर दिया ॥ अस्य च्वौ (७।४।३२); यस्येति च (६।४।१४८); आद्गुणः (६।१।८४) इन सब सूत्रों में ह्रस्व अकार का निर्देश होने पर भी ह्रस्व अकार तथा उसके सवर्ण दीर्घ 'आ' का भी ग्रहण हो जाता है ॥ उदित्–इसी प्रकार कु से कवर्ग (क ख ग घ ङ), चु से चवर्ग (च छ ज झ ञ), टु से टवर्ग (ट ठ ड ढ ण), तु से तवर्ग (त थ द ध न), पु से पवर्ग (प फ ब भ म) का ग्रहण होता है । क्योंकि वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः (वार्तिक०७७) से अपने-अपने वर्गों में होनेवाले वर्ण परस्पर सवर्ण होते हैं ॥

यहां से 'सवर्णस्य' की अनुवृत्ति १।१।६९ तक जाती है ॥

तपरस्तत्कालस्य ॥१।१।६९॥

तपरः १।१॥ तत्कालस्य ६।१॥ स०—तः परो यस्मात् सोऽयं तपरः, बहुव्रीहिः। अथवा तादपि परस्तपरः, पञ्चमीतत्पुरुषः। तस्य कालः तत्कालः, षष्ठीतत्पुरुषः। तत्कालः कालो यस्य स तत्कालः, उत्तरपदलोपी बहुव्रीहिसमासः ॥ अनु०—सवर्णस्य, स्वं रूपम् ॥ अर्थः—तपरो वर्णः तत्कालस्य सवर्णस्य (गुणान्तरयुक्तस्य) स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति ॥ उदा०—अतो भिस ऐस् (७।१।९)—वृक्षैः, प्लक्षैः । आत औ णलः (७।१।३४)—पपौ, ददौ ॥

भाषार्थः—[तपरः] तपर (त् परेवाला, तथा जो त् से परे) वर्ण वह [तत्कालस्य] अपने कालवाले सवर्णों का, तथा अपना भी ग्रहण कराता है, भिन्न कालवाले सवर्ण का नहीं ॥

तपर वर्ण अपने कालवाले, चाहे भिन्न गुणवाले (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, सानुनासिक तथा निरनुनासिक आदि) ही हों, उन सवर्णों का ग्रहण तो करा ही देगें, पर भिन्नकालवाले सवर्णों का नहीं ॥

अतो भिस ऐस् (७।१।९) यहां पर 'अतः' से ह्रस्व अ ही लिया जायेगा । सो वृक्ष प्लक्ष जो अकारान्त शब्द हैं, उनके भिस् को ऐस् होगा । माला शब्द से परे भिस् को ऐस् नहीं होगा । इसी प्रकार आत औ णलः (७।१।३४) में दीर्घ 'आ' को तपर किया है, तो आकारान्त जो पा वा आदि धातु हैं, इनसे परे ही णल् को औकारादेश होगा ॥

आदिरन्त्येन सहेता ॥१।१।७०॥

आदिः १।१॥ अन्त्येन ३।१॥ सह अ० ॥ इता ३।१॥ अनु०—स्वं रूपम् ॥ अर्थः—आदिः अन्त्येन इता=इत्संज्ञकेन वर्णेन सह तयोर्मध्यस्थानां स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति ॥ उदा०—अण्=अ इ उ । अक्=अ इ उ ऋ लृ । अच्=अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ॥

भाषार्थः—[आदिः] आदि वर्ण [अन्त्येन] अन्त्य [इता सह] इत्संज्ञक वर्ण के साथ मिलकर दोनों के मध्य में स्थित वर्णों का, तथा अपने स्वरूप का भी ग्रहण कराता है ॥

येन विधिस्तदन्तस्य ॥१।१।७१॥

येन ३।१॥ विधिः १।१॥ तदन्तस्य ६।१॥ स०—सोऽन्ते यस्य स तदन्तः, तस्य तदन्तस्य, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—स्वं रूपम् ॥ अर्थः—येन (विशेषणेन) विधिर्विधीयते,

स तदन्तस्य समुदायस्य स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति ॥ उदा०—अचो यत् (३।१।९७)—चेयम्, जेयम् । एरच् (३।३।५६)—चयः, जयः, अयः ॥

भाषार्थः—[येन] जिस विशेषण से [विधिः] विधि की जावे, वह विशेषण [तदन्तस्य] अन्त में है जिसके, उस विशेषणान्त समुदाय का ग्राहक होता है, और अपने स्वरूप का भी ॥

यहां विशेषण-विशेष्य प्रक्रिया इस प्रकार समझनी चाहिये—'येन' शब्द में करण में तृतीया है । करण से कर्त्ता का भी अनुमान हो जाता है, अतः अर्थापत्ति से कर्त्ता भी सन्निहित हुआ । कर्त्ता स्वतन्त्र होता है, और करण परतन्त्र, अर्थात् विधियों में कर्त्ता विशेष्य तथा करण विशेषण होगा । विशेषण-विशेष्यभाव विवक्षा के अधीन है । एरच् (३।३।५६) में अधिकारप्राप्त 'धातु' कर्त्ता, इकार करण के द्वारा अच् प्रत्यय का विधान करता है । अर्थात् इकार विशेषणरूप से विवक्षित है, और 'धातु' विशेष्यरूप से । इस अवस्था में प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति होती है । इस से इकारान्त चि जि आदि धातुओं से, तथा इण् धातु से अच् प्रत्यय होकर क्रमशः चयः जयः अयः रूप बन जाते हैं ॥

[वृद्धसंज्ञा-प्रकरणम्]

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् ॥१।१।७२॥

वृद्धिः १।१॥ यस्य ६।१॥ अचाम् ६।३ [निर्धारणे षष्ठी]॥ आदिः १।१॥ तत् १।१॥ वृद्धम् १।१॥ अर्थः—यस्य समुदायस्य अचां मध्ये आदिः अच् वृद्धिसंज्ञको भवति, तत् समुदायरूपं वृद्धसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—शालीयः, मालीयः । औपगवीयः, कापटवीयः ॥

भाषार्थः—[यस्य] जिस समुदाय के [अचाम्] अचों में [आदिः] आदि अच् [वृद्धिः] वृद्धिसंज्ञक हो, [तत्] उस समुदाय की [वृद्धम्] वृद्ध संज्ञा होती है ॥

शालीयः, मालीयः की सिद्धि परिशिष्ट १।१।१ में दिखा चुके हैं । इसी प्रकार 'औपगवः, कापटवः' शब्दों का आदि अच् वृद्धिसंज्ञक है, अतः वृद्ध संज्ञा होकर पूर्ववत् छ प्रत्यय हो गया ॥

यहां से 'वृद्धम्' की अनुवृत्ति १।१।७४ तक, तथा यस्याचामादिः की १।१।७४ में ही जाती है, १।१।७३ में नहीं जाती ॥

त्यदादीनि च ॥ १।१।७३॥

त्यदादीनि १।३॥ च अ० ॥ स०—त्यद् आदिर्येषाम् तानीमानि त्यदादीनि,

बहुव्रीहिः ॥ अनु०—वृद्धम् ॥ अर्थः—त्यदादीनि शब्दरूपाणि वृद्धसंज्ञकानि भवन्ति ॥ उदा०—त्यदीयम् । तदीयम् । एतदीयम् ॥

भाषार्थः—[त्यदादीनि] त्यदादिगण में पढ़े शब्दों की [च] भी वृद्ध संज्ञा होती है ॥ वृद्ध संज्ञा का प्रयोजन पूर्ववत् समझें ॥

उदा०—त्यदीयम् (उसका), तदीयम् (उसका), एतदीयम् (इसका) ॥

एङ् प्राचां देशे ॥१।१।७४॥

एङ् १।१॥ प्राचाम् ६।३॥ देशे ७।१॥ अनु०—यस्याचामादिः, वृद्धम् ॥ अर्थः—यस्य समुदायस्य अचाम् आदिः 'एङ्', तस्य प्राचां देशाभिधाने वृद्धसंज्ञा भवति ॥ उदा०—एणीपचने भवः=एणीपचनीयः । गोनर्दे भवः=गोनर्दीयः । भोजकटे भवः=भोजकटीयः ॥

भाषार्थः—जिस समुदाय के अचों का आदि अच् [एङ्] एङ् हो, उसकी (प्राचां देशे) पूर्वदेश को कहने में वृद्ध संज्ञा होती है ॥

उदा०—एणीपचनीयः (एणीपचन देश में रहनेवाला)। गोनर्दीयः (आजकल का गोंडा प्रदेश । यह महाभाष्यकार पतञ्जलि का नाम है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है) । भोजकटीयः (भोजकट नगर प्राचीन विदर्भ की राजधानी थी, उसमें होनेवाला) । यहां भी वृद्ध संज्ञा का प्रयोजन पूर्ववत् ही है ॥

इति प्रथमः पादः

—:०:—

द्वितीयः पादः

[ङित्कित्-प्रकरणम्]

गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् ॥१।२।१॥

गाङ्कुटादिभ्यः ५।३॥ अञ्णित् १।१॥ ङित् १।१॥ स०—कुट आदिर्येषां ते कुटादयः, गाङ् च कुटादयश्च गाङ्कुटादयः, तेभ्यः·········बहुव्रीहिगर्भेतरेतरयोगद्वन्द्वः। ञश्च णश्च ञ्णौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। ञ्णौ इतौ यस्य स ञ्णित्, न ञ्णित् अञ्णित्, बहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—गाङ्धातोः कुटादिभ्यश्च धातुभ्यः परे ये ञित्णित्भिन्नप्रत्ययास्ते ङिद्वद् भवन्ति। गाङ् इत्यनेन इङादेशो गाङ् गृह्यते, यो विभाषा लुङ्लृङोः (२।४।५०) इत्यनेन सम्पद्यते। कुटादयोऽपि (तुदा०) कुट कौटिल्ये इत्यारभ्य कुङ् शब्दे इति यावद् गृह्यन्ते ॥ उदा०—गाङ्—अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम्, अध्यगीषत। कुटादिभ्यः—कुटिता, कुटितुम्, कुटितव्यम्। उत्पुटिता, उत्पुटितुम्, उत्पुटितव्यम् ॥

भाषार्थः—[गाङ्कुटादिभ्यः] गाङ् तथा कुटादि धातुओं से परे जो [अञ्णित्] ञित्-णित्-भिन्न प्रत्यय, वह [ङित्] ङित्वत् (ङित् के समान) होते हैं ॥

गाङ् से यहां इङ् धातु का आदेश जो 'गाङ्' वह लिया गया है। कुटादिगण भी 'कुट कौटिल्ये' धातु से लेकर 'कुङ् शब्दे' तक जानना चाहिये ॥

यहां से 'ङित्' की अनुवृत्ति १।२।४ तक जायेगी ॥

विज इट् ॥१।२।२॥

विजः ५।१॥ इट् १।१॥ अनु०—ङित् ॥ अर्थः—ओविजी भयसञ्चलनयोः (तुदा० आ०) इत्येतस्मात् पर इडादिः प्रत्ययो ङिद्वद् भवति। उदा०—उद्विजिता, उद्विजितुम्, उद्विजितव्यम् ॥

भाषार्थः—[विजः] ओविजी धातु से परे [इट्] इडादि प्रत्यय ङित्वत् होते हैं ॥ उद्विजिता (कंपानेवाला) आदि की सिद्धियां परि०१।१।४८ के समान ही हैं। सर्वत्र पुगन्तलघूं० (७।३।८६) से गुण की प्राप्ति का क्क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो जाये, यही ङित् करने का प्रयोजन है ॥

यहां से 'इट्' की अनुवृत्ति १।२।३ तक जायेगी ॥

विभाषोर्णोः ॥१।२।३॥

विभाषा १।१॥ ऊर्णोः ५।१॥ अनु०—इट् ङित् ॥ अर्थः—'ऊर्णुञ् आच्छादने' (अदा० उ०) अस्मात् पर इडादिः प्रत्ययो विभाषा ङिद्वद् भवति ॥ उदा०—ऊर्णुविता ऊर्णविता ॥

भाषार्थः—[ऊर्णोः]ऊर्णुञ् धातु से परे इडादि प्रत्यय [विभाषा] विकल्प करके ङित्वत् होता है ॥ ङित् पक्ष में सार्वधातु० (७।३।८४) से प्राप्त गुण का पूर्ववत् निषेध होकर 'ऊर्णु इट् तृच् सु' रहा। अचि श्नुधातु० (६।४।७७), और ङिच्च (१।१।५२) लगकर उकार के स्थान में उवङ् हुआ, सो ऊर्ण् उवङ् इ तृ सु = ऊर्णुव् इ तृ सु रहा। शेष परि० १।१।२ के 'चेता' के समान होकर ऊर्णुविता बना। अङित् पक्ष में ७।३।८४ से गुण होकर 'ऊर्णो इ तृ सु' रहा। सो एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अवादेश होकर 'ऊर्णविता' बन गया ॥

उदा०—**ऊर्णुविता (आच्छादन करनेवाला), ऊर्णविता ॥**

सार्वधातुकमपित् ॥१।२।४॥

सार्वधातुकम् १।१॥ अपित् १।१॥ स०—प् इत् यस्य स पित्, बहुव्रीहिः। न पित् अपित्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—ङित् ॥ अर्थः—अपित् सार्वधातुकं ङिद्वद् भवति ॥ उदा०—कुरुतः, कुर्वन्ति। चिनुतः, चिन्वन्ति ॥

भाषार्थः—[अपित्] पित् भिन्न (जो पकार इत्वाला नहीं) [सार्वधातुकम्] सार्वधातुक ङित्वत होता है ॥

यहां से 'अपित्' की अनुवृत्ति १।२।५ तक जायगी ॥

असंयोगाल्लिट् कित् ॥१।२।५॥

असंयोगात् ५।१॥ लिट् १।१॥ कित् १।१॥ स०—न संयोगः असंयोगः, तस्मादसंयोगात्, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—अपित् ॥ अर्थः—असंयोगान्ताद्धातोः परोऽपिल्लिट् प्रत्ययः किद्वद् भवति ॥ उदा०—बिभिदतुः बिभिदुः। चिच्छिदतुः चिच्छिदुः। ईजतुः ईजुः ॥

भाषार्थः—[असंयोगात्]संयोग जिसके अन्त में न हो ऐसी धातु से परे अपित् [लिट्] लिट् प्रत्यय [कित्] कित्वत् होता है ॥

यहां से 'लिट्' की अनुवृत्ति १।२।६ तक, तथा 'कित्' की १।२।२६ तक जायेगी ॥

इन्धिभवतिभ्यां च ॥१।२।६॥

इन्धिभवतिभ्याम् ५।२॥ च अ० ॥ स०—इन्धिश्च भवतिश्च इन्धिभवती, ताभ्याम् इन्धिभवतिभ्याम् इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—लिट्, कित् ॥ अर्थः—इन्धि भवति इत्येताभ्यां परो लिट् प्रत्ययः किद्वद् भवति ॥ उदा०—पुत्र ईधे अथर्वणः (ऋ० ६।१६।१४) । समीधे दस्युहन्तमम् (ऋ० ६।१६।१५)। बभूव बभूविथ ॥

भाषार्थः—[इन्धिभवतिभ्याम्] इन्धि तथा तथा भू धातु से [च] भी परे लिट् प्रत्यय कित्वत् होता है ॥

इन्ध से उत्तर लिट् को कित्वत् करने का प्रयोजन इन्ध के अनुनासिक का ६।४।२४ से लोप करना है, तथा अपित् स्थानों में तो भू से उत्तर लिट् १।२।५ से कित्वत् हो ही जायेगा। पित् (=णल् थल् णल् जो पित्स्थानी होने से कित्वत् नहीं हो सकते) स्थानों में भी कित्वत् होकर वृद्धि तथा गुण का निषेध हो जाये, इसलिये यह सूत्र है ॥

मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवसः क्त्वा ॥१।२।७॥

मृडमृद···वसः ५।१॥ क्त्वा १।१॥ स०—मृडश्च मृदश्च गुधश्च कुषश्च क्लिशश्च वदश्च वश्च मृडमृदगुधकुषक्लिशवदवस्, तस्मात् मृड···वसः, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—कित् ॥ अर्थः—'मृड सुखने' (तुदा० प०), 'मृद क्षोदे' (क्र्या० प०), 'गुध रोषे' (क्र्या० प०), 'कुष निष्कर्षे' (क्र्या० प०), 'क्लिशू विबाधने' (क्र्या० प०), 'वद व्यक्तायां वाचि' (भ्वा० प०), 'वस निवासे' (भ्वादि प०) इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परः क्त्वाप्रत्ययः किद्वद् भवति ॥ उदा०—मृडित्वा, मृदित्वा, गुधित्वा, कुषित्वा, क्लिशित्वा, उदित्वा, उषित्वा ॥

भाषार्थः—[मृड···वसः] मृड, मृद, गुध, कुष, क्लिश, वद तथा वस् इन धातुओं से उत्तर [क्त्वा] क्त्वा प्रत्यय कित्वत् होता है ॥

विशेष—क्त्वा प्रत्यय तो कित् है ही, पुनः उसे कित्वत् करने का यह प्रयोजन है कि न क्त्वा सेट् (१।२।१८) सूत्र से सेट् क्त्वा कित् नहीं होता, ऐसा कहा है। ये सब सेट् धातु हैं, सो इनसे उत्तर जो क्त्वा वह भी कित् होते हुए भी कित् न माना जाता। कित् माना जाये, अतः यह सूत्र पुरस्तादपवाद रूप में बनाया है। गुध कुष क्लिश इन धातुओं को विकल्प से कित्वत् रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (१।२।२६) से प्राप्त था, नित्य कित्वत् हो, इसलिये यहां पुनः कहा है ॥

यहां से 'क्त्वा' की अनुवृत्ति १।२।८ तक जायेगी ॥

रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्च ॥१।२।८॥

रुद······प्रच्छः ५।१॥ सन् १।१॥ च अ० ॥ स०—रुदश्च, विदश्च, मुषश्च ग्रहिश्च, स्वपिश्च, प्रट् च रुदविद······प्रट्, तस्मात् रुद······प्रच्छः, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—क्त्वा, कित् ॥ अर्थः—'रुदिर् अश्रुविमोचने' (अदा० प०), 'विद ज्ञाने' (अदा० प०), 'मुष स्तेये' (क्र्या० प०), 'ग्रह उपादाने' (क्र्या० उ०), 'ञिष्वप् शये' (अदा० प०), 'प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्' (तुदा० प०) इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परौ क्त्वासनौ प्रत्ययौ किद्वद् भवतः ॥ उदा०—रुदित्वा, रुरुदिषति । विदित्वा, विविदिषति । मुषित्वा, मुमुषिषति । गृहीत्वा, जिघृक्षति । सुप्त्वा, सुषुप्सति । पृष्ट्वा, पिपृच्छिषति ॥

भाषार्थः—[रुद······प्रच्छः] रुद, विद, मुष, ग्रह, स्वप तथा प्रच्छ इन धातुओं से परे [सन्] सन् [च] और क्त्वा प्रत्यय कित्वत् होते हैं। रुद विद मुष इन धातुओं को रलो व्युपधा० (१।२।२६) से विकल्प से कित्वत् प्राप्त था, नित्यार्थ यह वचन है। ग्रह का ग्रहण विध्यर्थ है। स्वप प्रच्छ धातु अनिट् हैं। सो इन्हें १।२।१८ से कित् का निषेध प्राप्त ही नहीं था, पुनः इनसे उत्तर क्त्वा को कित् करना व्यर्थ है, क्योंकि वह तो कित् है ही। तब इनका ग्रहण सन् को कित् करने के लिये ही है, न कि क्त्वा को कित् करने के लिए, ऐसा जानना चाहिये ॥

यहां से 'सन्' की अनुवृत्ति १।२।१० तक जायेगी ॥

इको झल् ॥१।२।९॥

इकः ५।१॥ झल् १।१॥ अनु०—सन्, कित् ॥ अर्थः—इगन्ताद् धातोः परो झलादिः सन् किद्वद् भवति ॥ उदा०—चिचीषति, तुष्टूषति, चिकीर्षति, जिहीर्षति ॥

भाषार्थः—[इकः] इक् अन्तवाले धातु से परे [झल्] झलादि सन् कित्वत् होता है ॥

यहां से 'इकः' की अनुवृत्ति १।२।११, तथा 'झल्' की अनुवृत्ति १।२।१३ तक जायेगी ॥

हलन्ताच्च १।२।१०॥

हलन्तात् ५।१॥ च० अ० ॥ स०—हल् चासौ अन्तश्च हलन्तः तस्मात् हलन्तात्, कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु०—इको झल्, सन्, कित् ॥ अर्थः—इकः समीपो यो हल् तस्मात् परो झलादिः सन् किद्वद् भवति ॥ अन्तशब्दोऽत्र समीपवाची ॥ उदा०—बिभित्सति, बुभुत्सते ॥

भाषार्थः—इक् के [हलन्तात्] समीप जो हल् उससे परे [च] भी झलादि सन् कित्वत् होता है ॥ यहां अन्त शब्द समीपवाची है, अवयववाची नहीं ॥

यहां से 'हलन्तात्' की अनुवृत्ति १।२।११ तक जायेगी ॥

लिङ्सिचावात्मनेपदेषु ॥१।२।११॥

लिङ्सिचौ १।२॥ आत्मनेपदेषु ७।३॥ स०—लिङ् च सिच् च लिङ्सिचौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—हलन्तात्, इको झल्, कित् ॥ अर्थः—इकः समीपाद् हलः परौ झलादी लिङ्सिचौ आत्मनेपदविषये किद्वद् भवतः ॥ उदा०—लिङ्—भित्सीष्ट, भुत्सीष्ट । सिच्—अभित्त, अबुद्ध ॥

भाषार्थः—इक् के समीप जो हल् उससे परे झलादि [लिङ्सिचौ] लिङ् और सिच् [आत्मनेपदेषु] आत्मनेपद विषय में कित्वत् होते हैं ॥

यहां से 'लिङ्सिचौ' की अनुवृत्ति १।२।१३ तक, तथा आत्मनेपदेषु की १।२।२७ तक जायेगी ॥

उश्च ॥१।२।१२॥

उः ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—लिङ्सिचावात्मनेपदेषु, झल्, कित् ॥ अर्थः—ऋवर्णान्ताद्धातोः परौ झलादी लिङ्सिचौ आत्मनेपदविषये किद्वद् भवतः ॥ उदा०—लिङ्—कृषीष्ट, हृषीष्ट । सिच्—अकृत, अहृत ॥

भाषार्थः—[उः] ऋवर्णान्त धातुओं से परे [च] भी झलादि लिङ् और सिच् आत्मनेपद विषय में कित्वत् होते हैं ॥ सब सिद्धियां परि० १।२।११ के समान जानें । कित्वत् होने से ७।३।८४ से प्राप्त गुण का निषेध पूर्ववत् हो जाता है । अकृत अहृत में सिच् के सकार का लोप ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७) से होता है ॥

उदा०—लिङ्—कृषीष्ट (वह करे), हृषीष्ट (वह हरण करे) । सिच्—अकृत (उसने किया), अहृत (उसने हरण किया) ॥

वा गमः ॥१।२।१३॥

वा अ० ॥ गमः ५।१॥ अनु०—लिङ्सिचावात्मनेपदेषु, झल्, कित् ॥ अर्थः—गम्धातोः परौ झलादी लिङ्सिचौ आत्मनेपदविषये विकल्पेन किद्वद् भवतः ॥ उदा०—लिङ्—संगसीष्ट, संगंसीष्ट । सिच्—समगत, समगंस्त ॥

भाषार्थः—[गमः] गम् धातु से परे झलादि लिङ् और सिच् आत्मनेपद विषय में [वा] विकल्प से कित्वत् होते हैं ॥

हनः सिच् ॥१।२।१४॥

हनः ५।१॥ सिच् १।१॥ अनु॰—आत्मनेपदेषु, कित् ॥ अर्थः—हन्धातोः परः सिच् आत्मनेपदविषये किद्वद् भवति ॥ उदा॰—आहत, आहसाताम्, आहसत ॥

भाषार्थः—(हनः) हन् धातु से परे [सिच्] सिच् आत्मनेपदविषय में कित्-वत् होता है ॥

आहत में समगत के समान ही कित्वत् होने से अनुनासिकलोप होकर ८।२।२७ से सिच् के सकार का लोप हुआ है। आङो यमहनः (१।३।२८) सूत्र से हन् धातु से आत्मनेपद हो जायेगा। आहसत में 'झ' को अत् आदेश आत्मनेपदेष्वनतः (७।१।५) से हो जाता है ॥ उदा॰—आहत (उसने मारा), आहसाताम्, आहसत ॥

यहाँ से 'सिच्' की अनुवृत्ति १।२।१७ तक जायेगी ॥

यमो गन्धने ॥१।२।१५॥

यमः ५।१॥ गन्धने ७।१॥ अनु॰—सिच्, आत्मनेपदेषु, कित् ॥ अर्थः—गन्धनेऽर्थे वर्त्तमानाद् यम् धातोः परः सिच् आत्मनेपदविषये किद्वद् भवति ॥ गन्धनं=सूचनम्, परस्य दोषाविष्करणम् ॥ उदा॰—उदायत, उदायसाताम्, उदायसत ॥

भाषार्थः—[गन्धने] गन्धन अर्थ में वर्त्तमान [यमः] यम् धातु से परे आत्मनेपद विषय में सिच् प्रत्यय कित्वत् होता है ॥ गन्धन चुगली करने को कहते हैं ॥

उदायत, यहाँ पर भी कित् करने का प्रयोजन अनुनासिकलोप करना ही है। तदनन्तर सिच् के सकार का लोप पूर्ववत् ही हो जायेगा। आत्मनेपद भी आङो यमहनः (१।३।२८) से हो जाता है। उत् आङ् यम् सिच् त=उदायस्त=उदायत (उसने चुगली की) बन गया ॥

यहां से 'यमः' की अनुवृत्ति १।२।१६ तक जायेगी ॥

विभाषोपयमने ॥१।२।१६॥

विभाषा १।१॥ उपयमने ७।१॥ अनु॰—यमः, सिच्, आत्मनेपदेषु, कित्॥ अर्थः—उपयमनेऽर्थे वर्त्तमानाद् यम् घातोः परः सिच् प्रत्ययः आत्मनेपदविषये विकल्पेन किद्-वद् भवति ॥ उपयमनं पाणिग्रहणम् ॥ उदा॰—उपायत कन्याम्, उपायंस्त कन्याम् ॥

भाषार्थः—[उपयमने] उपयमन अर्थ में वर्त्तमान यम् धातु से परे आत्मनेपद विषय में सिच् प्रत्यय [विभाषा] विकल्प करके कित्वत् होता है ॥ उपयमन विवाह करने को कहतेहैं ॥

उप आङ् पूर्वक 'उपायत' तथा 'उपायंस्त' की सिद्धि 'समगत समगंस्त' के समान परि० १।२।१३ में देखें। कित् पक्ष में अनुनासिकलोप, तथा सिच् के सकार का लोप होकर—उपायत कन्याम् (उसने कन्या से विवाह किया), तथा अकित् पक्ष में उपायंस्त कन्याम् बनेगा ॥

स्थाघ्वोरिच्च ॥१।२।१७॥

स्थाघ्वोः ६।२॥ इत् १।१॥ च अ० ॥ स०—स्थाश्च घुश्च स्थाघू, तयोः स्थाघ्वोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—सिच्, आत्मनेपदेषु, कित् ॥ अर्थः—स्थाधातोः घुसंज्ञकेभ्यश्च परः सिच् किद्वद् भवति, इकारश्चान्त्यादेशः ॥ उदा०—उपास्थित, उपास्थिषाताम्, उपास्थिषत । घुसंज्ञकानाम्—अदित, अधित ॥

भाषार्थः—[स्थाघ्वोः] स्था तथा घुसंज्ञक धातुओं से परे सिच् कित्वत् होता है, और [इत्] इकारादेश [च] भी हो जाता है ॥

न क्त्वा सेट् ॥१।२।१८॥

न अ० ॥ क्त्वा लुप्तविभक्तिकनिर्देशः ॥ सेट् १।१॥ स०—सह इटा सेट्, तेन सहेति० (२।२।२८) इति बहुव्रीहिसमासः ॥ अनु०—कित् ॥ अर्थः—सेट् क्त्वाप्रत्ययः किन्न भवति ॥ उदा०—देवित्वा, वर्त्तित्वा, वर्धित्वा ॥

भाषार्थः—[सेट्] सेट् [क्त्वा] क्त्वा प्रत्यय कित् [न] नहीं होता है ॥ कित् का निषेध करने से ७।३।८६ से गुण हो जाता है, अन्यथा क्ङिति च (१।१।५) से निषेध हो जाता। दिव् इट् त्वा=देवित्वा (क्रीडा करके), वृत् इट त्वा=वर्त्तित्वा (बरत कर), वृध् इट् त्वा=वर्धित्वा (बढ़कर) बनेंगे ॥

यहां से 'न' 'सेट्' की अनुवृत्ति १।२।२६ तक जायेगी ॥

निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः ॥१।२।१९॥

निष्ठा १।१॥ शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः ५।१॥ स०—शीङ् च स्विदिश्च मिदिश्च क्ष्विदिश्च धृट् च, शीङ्⋯धृट्, तस्मात् शीङ्⋯धृषः, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—न सेट्, कित् ॥ अर्थः—शीङ् स्वप्ने (अदा० आ०), ञिष्विदा गात्रप्रक्षरणे (दिवा० प०), ञिमिदा स्नेहने (दिवा० प०), ञिक्ष्विदा स्नेहनमोचनयोः (दिवा० प०), ञिधृषा प्रागल्भ्ये (स्वा० प०) इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परः सेट् निष्ठाप्रत्ययः कित् न भवति ॥

उदा०—शयितः शयितवान्, प्रस्वेदितः प्रस्वेदितवान्, प्रमेदितः प्रमेदितवान्, प्रक्ष्वेदितः प्रक्ष्वेदितवान्, प्रधर्षितः प्रधर्षितवान् ।।

भाषार्थः—[शीङ् ...... धृषः] शीङ्, स्विद्, मिद्, क्ष्विद् तथा धृष् धातुओं से परे सेट् [निष्ठा] निष्ठा प्रत्यय कित् नहीं होता है ।।

निष्ठाप्रत्ययान्त शब्दों की सिद्धियां परि० १।१।५ में दर्शाई हैं, उसी प्रकार यहां भी जानें। सेट् होने से सर्वत्र इट् आगम ७।२।३५ से हो जाता है। कित् निषेध करने का सर्वत्र यही प्रयोजन है कि ७।३।८६ से प्राप्त गुण हो जाय, अन्यथा १।१।५ से निषेध हो जाता ।।

उदा०—शयितः (सोया हुआ) शयितवान् (वह सोया), प्रस्वेदितः (पसीने से भीगा हुआ) प्रस्वेदितवान् (वह पसीने से भीगा), प्रमेदितः (स्नेह किया हुआ) प्रमेदितवान् (उसने स्नेह किया), प्रक्ष्वेदितः (स्नेह किया हुआ) प्रक्ष्वेदितवान् (उसने स्नेह किया), प्रधर्षितः (ढीठ बना हुआ) प्रधर्षितवान् (उसने ढिठाई की) ।।

यहां से "निष्ठा" की अनुवृत्ति १।२।२२ तक जाती है ।।

मृषस्तितिक्षायाम् ।।१।२।२०।।

मृषः ५।१।। तितिक्षायाम् ७।१।। अनु०—निष्ठा, न सेट्, कित् । अर्थः—तितिक्षायामर्थे वर्त्तमानात् मृष्धातोः परः सेट् निष्ठाप्रत्ययो न किद् भवति ।। तितिक्षा =क्षमा ।। उदा०—मर्षितः, मर्षितवान् ।।

भाषार्थः—[तितिक्षायाम्] क्षमा अर्थ में वर्त्तमान [मृषः] मृष धातु से परे सेट् निष्ठा प्रत्यय कित् नहीं होता ।।

उदा०—मर्षितः (क्षमा किया हुआ) मर्षितवान् (उसने क्षमा किया)। पूर्ववत् कित् निषेध होने से गुण हो जाता है ।।

उदुपधाद्भावादिकर्मणोरन्यतरस्याम् ।।१।२।२१।।

उदुपधात् ५।१।। भावादिकर्मणोः ७।२।। अन्यतरस्याम् अ० ।। स०—उत् उपधा यस्य स उदुपधः, तस्मात् उदुपधात्, बहुव्रीहिः । आदि चासः कर्म आदिकर्म, कर्मधारयस्तत्पुरुषः । भावश्च आदिकर्म च भावादिकर्मणी, तयोः भावादिकर्मणोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—निष्ठा, न सेट्, कित् ।। अर्थः—उदुपधाद्धातोः परो भावे आदिकर्मणि च वर्त्तमानः सेट् निष्ठाप्रत्ययोऽन्यतरस्याम्=विकल्पेन कित् न भवति ।। उदा०—भावे—द्योतितमनेन, द्युतितमनेन । मोदितमनेन, मुदितमनेन ।। आदिकर्मणि —प्रद्योतितः, प्रद्युतितः । प्रमोदितः, प्रमुदितः ।।

भाषार्थः—[उदुपधात्] उकार जिसकी उपधा है, ऐसी धातु से परे [भावादिकर्मणोः] भाववाच्य तथा आदिकर्म में वर्त्तमान जो सेट् निष्ठा प्रत्यय वह [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके कित् नहीं होता ॥ आदिकर्म क्रिया की प्रारम्भिक अवस्था को कहते हैं ॥ उदा०—द्योतितमनेन (यह प्रकाशित हुआ) द्युतितमनेन । मोदितमनेन (यह प्रसन्न हुआ) मुदितमनेन । आदिकर्म में—प्रद्योतितः (प्रकाशित होना आरम्भ हुआ) प्रद्युतितः । प्रमोदितः(प्रसन्न होने लगा) प्रमुदितः ॥

द्युत् तथा मुद् उकारोपध धातुएं हैं। सो कित् निषेध पक्ष में गुण,तथा कित् पक्ष में गुण निषेध हो जाता है । नपुंसके भावे क्तः (३।३।११४) से भाव में क्त प्रत्यय हुआ है, तथा आदिकर्मणि निष्ठा वक्तव्या (वा० ३।२।१०२) इस वार्त्तिक से आदिकर्म को कहने में क्त प्रत्यय हुआ है । भाव, कर्म, कर्त्ता की विशेष व्याख्या भावकर्मणोः (१।३।१३) सूत्र पर देखें ॥

पूङः क्त्वा च ॥१।२।२२॥

पूङः ५।१॥ क्त्वा लुप्तविभक्तिकः ॥ च अ० ॥ अनु०—निष्ठा, न सेट्, कित्॥ अर्थः—पूङ् पवने (भ्वा० आ०) अस्माद् धातोः परः सेट् निष्ठा क्त्वा च कित् न भवति ॥ उदा०—पवितः पवितवान् । पवित्वा ॥

भाषार्थः—[पूङः] पूङ् धातु से परे सेट् निष्ठा, तथा सेट् [क्त्वा] क्त्वा प्रत्यय [च] भी कित् नहीं होता है ॥

उदा०—पवितः (पवित्र किया हुआ) पवितवान् (पवित्र किया) । पवित्वा (पवित्र करके) ॥

पवितः आदि में पूङश्च (७।२।५१) से इट् आगम पक्ष में होता है । सो सेट् पक्ष में कित् निषेध होने से गुण होकर 'पवितः' आदि रूप बनेंगे । तथा जिस पक्ष में इट् आगम नहीं होगा, उस पक्ष में कित् निषेध नहीं होगा । सो गुण का निषेध होकर पूत पूतवान् तथा पूत्वा रूप भी बनते हैं ॥

यहां से 'क्त्वा' की अनुवृत्ति १।२।२६ तक जाती है ॥

नोपधात्थफान्ताद्वा ॥१।२।२३॥

नोपधात् ५।१॥ थफान्तात् ५।१॥ वा अ० ॥ स०—न उपधा यस्य स नोपधः, तस्माद्, बहुव्रीहिः। थश्च फश्च थफौ, थफौ अन्ते यस्य स थफान्तः, तस्मात्··· द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—क्त्वा, न सेट्, कित् ॥ अर्थः—नकारोपधाद् थकारान्ताद् फकारान्ताच्च धातोः परः सेट् क्त्वा प्रत्ययो वा न किद् भवति ॥ उदा०—ग्रथित्वा ग्रन्थित्वा, श्रथित्वा श्रन्थित्वा । गुफित्वा गुम्फित्वा ॥

भाषार्थः—[नोपधात्] नकार उपधावाली धातुयें यदि वे [थफान्तात्] थकारान्त और फकारान्त हों, तो उनसे परे जो सेट् क्त्वा प्रत्यय वह [वा] विकल्प करके कित् नहीं होता ।। न क्त्वा सेट् (१।२।१८) से नित्य ही कित्त्व निषेध प्राप्त था, विकल्प विधान कर दिया है ।।

उदा०—ग्रथित्वा (बांधकर) ग्रन्थित्वा; श्रथित्वा (छूट कर) श्रन्थित्वा, गुफित्वा (गूंथकर) गुम्फित्वा ।।

ग्रन्थ श्रन्थ धातुयें नकारोपध तथा थकारान्त हैं, सो कित् पक्ष में अनिदितां हल० (३।४।२४) से अनुनासिक लोप होगा। तथा अकित् पक्ष में नहीं होगा। इसी प्रकार गुन्फ धातु नकारोपध तथा फकारान्त है, उसमें भी ऐसे ही जानें ।।

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति १।२।२६ तक जायेगी ।।

वञ्चिलुञ्च्यृतश्च ।।१।२।२४।।

वञ्चिलुञ्च्यृतः ५।१।। च अ० ।। स०—वञ्चिश्च लुञ्चिश्च ऋत् च वञ्चिलुञ्च्यृत्, तस्मात् ···· समाहारो द्वन्द्वः ।। अनु०—वा क्त्वा न सेट् कित् ।।

अर्थः—वञ्चु प्रलम्भने (चुरा० आ०), लुञ्च अपनयने (भ्वा० प०), ऋत् सौत्रो धातुः घृणायाम्, इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परः सेट क्त्वा वा न किद् भवति ।। उदा०—वचित्वा वञ्चित्वा । लुचित्वा लुञ्चित्वा । ऋतित्वा अर्तित्वा ।।

भाषार्थः—[वञ्चि··तः] वञ्चु, लुञ्च, ऋत् इन धातुओं से परे [च] भी सेट् क्त्वा विकल्प करके कित् नहीं होता ।। पूर्ववत् सेट् क्त्वा को कित्त्व निषेध प्राप्त था, विकल्प विधान कर दिया है ।।

उदा०—वचित्वा (ठगकर) वञ्चित्वा । लुचित्वा (दूर करके) लुञ्चित्वा । ऋतित्वा (घृणा करके) अर्तित्वा ।।

कित् पक्ष में वञ्च लुञ्च के अनुनासिक का पूर्ववत् लोप होगा, तथा अकित् पक्ष में नहीं होगा। ऋत् धातु को भी कित् पक्ष में गुण निषेध, एवं अकित् पक्ष में गुण होगा, ऐसा जानना चाहिये ।। वचित्वा वञ्चित्वा में इट् आगम उदितो वा (७।२।५६) से होता है ।।

तृषिमृषिकृशेः काश्यपस्य ।।१।२।२५।।

तृषिमृषिकृशेः ५।१।। काश्यपस्य ६।१।। स०—तृषिश्च मृषिश्च कृशिश्च तृषिमृषिकृशिः, तस्मात्···समाहारो द्वन्द्वः ।। अनु०—वा क्त्वा न सेट् कित् ।। अर्थः—ञितृष पिपासायाम् (दिवा० प०), मृष तितिक्षायाम् (दिवा० उ०), कृश तनूकरणे

(दिवा० प०), इत्येतेभ्यो धातुभ्यः परः सेट् क्त्वा वा न किद् भवति, काश्यपस्याचार्यस्य मतेन ॥ उदा०—तृषित्वा तर्षित्वा । मृषित्वा मर्षित्वा । कृशित्वा कर्शित्वा ॥

भाषार्थ—[तृषिमृषिकृशेः] तृष मृष कृश इन धातुओं से परे सेट् क्त्वा प्रत्यय [काश्यपस्य] काश्यप आचार्य के मत में विकल्प करके कित् नहीं होता ।। काश्यप ग्रहण पूजार्थ है ॥

उदा०—तृषित्वा (प्यासा होकर) तर्षित्वा । मृषित्वा (सहन करके) मर्षित्वा । कृशित्वा (छीलकर या पतला करके) कर्शित्वा ।। सर्वत्र कित् पक्ष में गुण निषेध, तथा अकित् पक्ष में गुण होता है ॥

रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च ॥१।२।२६॥

रलः ५।१॥ व्युपधात् ५।१॥हलादेः५।१॥ सन्१।१॥ च अ०॥ स०—उश्च इश्च वी(इको यणचि ६।१।७४ इत्यनेन यणादेशः),वी उपधे यस्य स व्युपधः, तस्मात्······ द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः । हल् आदिर्यस्य स हलादिः, तस्मात्······बहुव्रीहिः ॥ अनु०—वा क्त्वा न सेट् कित् ॥ अर्थः—उकारोपधाद् इकारोपधाच्च रलन्ताद्धलादेः धातोः परः सेट् सन्, सेट् क्त्वा च वा कितौ न भवतः ॥ उदा०—द्युतित्वा द्योतित्वा । लिखित्वा लेखित्वा । दिद्युतिषते, दिद्योतिषते । लिलिखिषति लिलेखिषति ॥

भाषार्थः—[व्युपधात्] उकार इकार उपधावाली [रलः] रलन्त एवं [हलादेः] हलादि धातुओं से परे सेट् [सन्] सन [च] और सेट् क्त्वा प्रत्यय विकल्प से कित् नहीं होते हैं ॥

उदा०—द्युतित्वा (प्रकाशित होकर) द्योतित्वा । लिखित्वा (लिखकर) लेखित्वा । दिद्युतिषते (प्रकाशित होना चाहता है) दिद्योतिषते । लिलिखिषति (लिखना चाहता है) लिलेखिषति ॥

'द्युत दीप्तौ' (भ्वा० आ०) तथा 'लिख अक्षरविन्यासे' (तुदा० प०) ये धातुएं उकार इकार उपधावाली, रलन्त तथा हलादि भी हैं । सो इनसे परे सेट् सन् और सेट् क्त्वा को कित्त्व विकल्प से हो गया है । कित् पक्ष में गुण निषेध, एवं अकित् पक्ष में पूर्ववत् गुण भी हो जायेगा ॥

सिद्धि सारी पूर्ववत् ही समझें । सन्नन्त की सिद्धि परि० १।२।८ के समान जानें । हां, दिद्युतिषते में 'द्यु त् द्युत्' द्वित्व होने पर द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् (७।४।६७) से अभ्यास को सम्प्रसारण होकर—'दि उ त् द्यु त् इट् स अ त'=सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) लगकर, और हलादि शेष होकर दिद्युतिषते बन गया है, ऐसा जानें ॥

ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः ॥१।२।२७॥

ऊकालः १।१॥ अच् १।१॥ ह्रस्वदीर्घप्लुतः १।१॥ उ, ऊ उ३ काल इति (अकः सवर्णे दीर्घः ७।१।९७ इत्यनेन त्रयाणामुकाराणां दीर्घत्वम्) ऊकालः। कालशब्दः प्रत्येकमुकारं प्रति सम्बध्यते—उकालः, ऊकालः, उ३काल इति ॥ स०—उश्च ऊश्च उ३श्चेति वः, वां काल इव कालो यस्य स ऊकालः, बहुव्रीहिः। ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च ह्रस्वदीर्घप्लुतः, समाहारो द्वन्द्वः। पुंल्लिङ्गनिर्देशस्तु ज्ञापकः क्वचित् समाहारेऽपि नपुंसकत्वाभावस्य ॥ अर्थः—उ ऊ उ३ इत्येवंकालो योऽच् स यथासङ्ख्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञको भवति ॥ उदा०—ह्रस्वः-- दधिच्छत्रम्, मधुच्छत्रम्। दीर्घः—कुमारी, गौरी। प्लुतः—देवदत्त३ अत्र न्वसि ॥

भाषार्थः - [ऊकालः] उकाल = एकमात्रिक, ऊकाल = द्विमात्रिक, तथा उ३-काल = त्रिमात्रिक [अच्] अच् को यथासङ्ख्य करके [ह्रस्वदीर्घप्लुतः] ह्रस्व दीर्घ और प्लुत संज्ञा होती है। अर्थात् एकमात्रिक की ह्रस्व, द्विमात्रिक की दीर्घ, तथा त्रिमात्रिक की प्लुत संज्ञा होती है ॥

यहां सूत्र में 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः' में नपुंसकलिङ्ग होना चाहिये था। पुंलिङ्ग-निर्देश से ज्ञापित होता है कि कहीं-कहीं समाहारद्वन्द्व में भी नपुंसकलिङ्ग का अभाव होता है ॥

यहां से 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः' की अनुवृत्ति १।२।२८ तक, तथा 'अच्' की १।२।३१ तक जाती है ॥

अचश्च ॥१।२।२८॥

अचः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—अच् ह्रस्वदीर्घप्लुतः ॥ परिभाषेयं स्थानि-नियमार्था ॥ अर्थः—ह्रस्व दीर्घ प्लुत इत्येवं विधीयमानो योऽच्, स अच एव स्थाने भवित ॥ उदा०—अतिरि, अतिनि, उपगु ॥

भाषार्थः—यह परिभाषासूत्र है स्थानी का नियम करने के लिये ॥ ह्रस्व हो जाये, दीर्घ हो जाये, प्लुत हो जाये, ऐसा नाम लेकर जब कहा जावे, तो [च] वह पूर्वोक्त ह्रस्व दीर्घ प्लुत [अचः] अच् के स्थान में ही हों ॥ अतिरि आदि की सिद्धि परि० १।१।४७ में देखें ॥ जब ह्रस्वो नपुंसके० (१।२।४७) से ह्रस्व प्राप्त होता है, तो यह परिभाषा उपस्थित हो जाती है। अतः अजन्त प्रातिपदिक के ही अन्तिम अच् का ह्रस्व होता है, हलन्त 'सुवाग्' आदि का नहीं ॥

[स्वर-प्रकरणम्]

उच्चैरुदात्तः ॥१।२।२९॥

उच्चैः अ० ॥ उदात्तः १।१॥ अनु०—अच् ॥ अर्थः—ताल्वादिषु हि भागवत्सु स्थानेषु वर्णा निष्पद्यन्ते, तत्र यः समाने स्थाने ऊर्ध्वभागनिष्पन्नोऽच् स उदात्तसंज्ञो भवति ॥ अत्र महाभाष्यकार आह—"**आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य । आयामः**=गात्राणां निग्रहः । **दारुण्यम्**=स्वरस्य दारुणता रूक्षता । **अणुता खस्य**=कण्ठस्य संवृतता, उच्चैःकराणि शब्दस्य" ॥ **उदा०**—औपगवः, ये, ते, के ॥

भाषार्थः—ताल्वादि स्थानों से वर्णों का उच्चारण होता है, उन स्थानों में जो ऊर्ध्व भाग हैं, उन [उच्चैः**] ऊर्ध्व भागों से उच्चरित जो अच्, वह [**उदात्तः**] उदात्तसंज्ञक होता है ॥**

यहां महाभाष्यकार कहते हैं कि—"आयामो दारुण्यमणुता खस्येति उच्चैःकराणि शब्दस्य" । **आयामः=शरीर के सब अवयवों को सख्त कर लेना । दारुण्यं=स्वर में रूखाई होना । अणुता खस्य=कण्ठ को संकुचित कर लेना । ऐसे-ऐसे यत्नों से बोले जानेवाला जो अच्, वह उदात्तसंज्ञक होता है ॥ प्रायः वेद में उदात्त स्वर का कोई चिह्न नहीं होता है ॥**

नीचैरनुदात्तः ॥१।२।३०॥

नीचैः अ० ॥ अनुदात्तः १।१॥ **अनु०—अच् ॥ अर्थः**—समाने स्थाने नीच-भागे=अधरभागे निष्पन्नो योऽच् सोऽनुदात्तसंज्ञको भवति ॥ अत्रापि महाभाष्यकार आह—"**अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य । अन्ववसर्गः**=गात्राणां शिथिलता । **मार्दवं**=स्वरस्य मृदुता स्निग्धता । **उरुता खस्य**=महत्ता कण्ठस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य ।" **उदा०**—नमस्ते देवदत्त, त्व, सम, सिम ॥

भाषार्थः—**ताल्वादि स्थानों में जो [**नीचैः**] नीचे भागों से बोला जानेवाला अच् वह [**अनुदात्तः**] अनुदात्तसंज्ञक होता है ॥**

यहां भी महाभाष्यकार कहते हैं—"अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य ।" **अन्ववसर्गः=शरीर के अवयवों को ढीले कर देना । मार्दवं=स्वर को मृदु कोमल करके बोलना । उरुता खस्य=कण्ठ को फैला करके बोलना । इन-इन प्रयत्नों**

से बोले जानेवाला अच् अनुदात्तसंज्ञक होता है ॥ अनुदात्त स्वर का चिह्न सामान्यतया नीचे पड़ी रेखा होती है ॥

समाहारः स्वरितः ॥१।२।३१॥

समाहारः १।१॥ स्वरितः १।१॥ समाहारः इत्यत्र सम्आङ्पूर्वात् हृञ्धातोः घञ् प्रत्ययः, समाहरणं समाहारः। पश्चात् समाहारोऽस्मिन्नस्तीति समाहारः, अर्शआदिभ्योऽच् (५।२।१२७) इत्यनेन मत्वर्थीयोऽच् प्रत्ययः ॥ अनु०—अच् ॥ अर्थः—उदात्तानुदात्तगुणयोः समाहारो यस्मिन्नचि सोऽच् स्वरितसंज्ञको भवति ॥ उदा०—क्वं, शिक्यम्, कुन्या, सामन्यः ॥

भाषार्थः—[समाहारः] जिस अच् में उदात्त तथा अनुदात्त दोनों गुणों का समाहार हो, अर्थात् थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दोनों गुण मिले हों, ऐसा अच् [स्वरितः] स्वरितसंज्ञक होता है ॥

स्वरित का चिह्न सामान्यतया ऊपर खड़ी रेखा होती है ॥

तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् ॥१।२।३२॥

तस्य ६।१॥ आदितः अ० ॥ उदात्तम् १।१॥ अर्धह्रस्वम् १।१॥ स०—अर्धं ह्रस्वस्य अर्धह्रस्वम्, अर्धं नपुंसकम् (२।२।२) इत्यनेन तत्पुरुषसमासः ॥ तस्येति सापेक्षकं पदं स्वरित इत्येतमनुकर्षति । 'आदितः' इत्यत्र तसिप्रकरणे आद्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम् (वा० ५।४।४४) इत्यनेन वार्त्तिकेन तसिः प्रत्ययः, तद्धितश्चास० (१।१।३७) इत्यनेनाव्ययत्वम् । अर्धह्रस्वमात्रम् अर्धह्रस्वम्, मात्रचोऽत्र प्रमाणे लो वक्तव्यः(वा० ५।२।३७) इत्यनेन वार्त्तिकेन लोपो द्रष्टव्यः ॥ अर्थः—तस्य स्वरितस्यादौ अर्धह्रस्वम् उदात्तं भवति, परिशिष्टमनुदात्तम् ॥ उदा०—क्वं, कुन्या ॥

भाषार्थः—[तस्य] उस स्वरित गुणवाले अच् के [आदितः] आदि की [अर्द्धह्रस्वम्] आधी मात्रा [उदात्तम्] उदात्त, और शेष अनुदात्त होती है ॥

जिस प्रकार दूध और पानी मिला देने पर पता नहीं लगता कि कहाँ पर पानी वा कहाँ पर दूध है, तथा कितना पानी वा कितना दूध है, इसी प्रकार यहाँ उदात्त तथा अनुदात्त मिश्रित गुणवाले अच् की स्वरित संज्ञा कही है । तो पता नहीं लगता कि कहाँ पर उदात्त वा कहाँ अनुदात्त है, तथा कितना उदात्त वा कितना अनुदात्त है । सो इस सूत्र में पाणिनि आचार्य इस सन्देह का निवारण करते हैं ॥

क्वं के स्वरित अच् 'अ' में आदि की आधी मात्रा उदात्त, तथा शेष आधी

अनुदात्त है । कन्यां के 'आ' में आदि की आधी मात्रा उदात्त, तथा शेष डेढ़ मात्रा अनुदात्त रहेगी ।। ववं तथा कन्यां की सिद्धि परि० १।२।३१ में देखें ।।

एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ ।।१।२।३३।।

एकश्रुति १।१।। दूरात् ५।१।। सम्बुद्धौ ७।१।। स०—एका श्रुतिः श्रवणं यस्य तत् एकश्रुति, बहुव्रीहिः ।। श्रवणं श्रुतिः । सम्यग् बोधनं सम्बुद्धिः ।। **अर्थः**—दूरात् सम्बोधने वाक्यम् एकश्रुति भवति।। यत्रोदात्तानुदात्तस्वरितानां स्वराणां भेदो न लक्ष्यते स एकश्रुतिस्वरः ।। **उदा०**—आगच्छ भो माणवक देवदत्त३ । अत्रोदात्तानुदात्तस्वरितस्वराः पृथक्-पृथक् नोच्चारिता भवन्ति ।।

भाषार्थः—[दूरात्] दूर से [सम्बुद्धौ] सम्बोधन=बुलाने में वाक्य [एकश्रुति] एकश्रुति हो जाता है, अर्थात् वाक्य में पृथक्-पृथक् उदात्त-अनुदात्त-स्वरित स्वरों का श्रवण न होकर, एक ही प्रकार का स्वर सुनाई देता है ।।

यहां सम्बुद्धि पद से एकवचनं सम्बुद्धिः (२।३।४९) वाला सम्बुद्धि नहीं लेना है, अपितु 'सम्यग् बोधनं सम्बुद्धिः'=भली प्रकार किसी को बुलाना लिया गया है।।

आगच्छ भो माणवक देवदत्त३ (ऐ लड़के देवदत्त आ), यहां उदात्त अनुदात्त स्वरित तीनों स्वर हटकर एकश्रुति हो गई है ।। एकश्रुति स्वर का कोई चिह्न नहीं होता ।।

यहां से 'एकश्रुति' की अनुवृत्ति १।२।३९ तक जायेगी ।।

[1]यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु ।।१।२।३४।।

यज्ञकर्मणि ७।१।। अजपन्यूङ्खसामसु ७।३।। स०—यज्ञस्य कर्म यज्ञकर्म, तस्मिन् यज्ञकर्मणि, षष्ठीतत्पुरुषः । जपश्च न्यूङ्खश्च साम च जपन्यूङ्खसामानि, न जपन्यूङ्खसामानि अजपन्यूङ्खसामानि, तेष्वजपन्यूङ्खसामसु, द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ।। **अनु०**—एकश्रुति ।। **अर्थः**—यज्ञकर्मणि उदात्तानुदात्तस्वरितस्वराणामेकश्रुतिर्भवति, जपन्यूङ्खसामानि वर्जयित्वा ।। जप उपांशुप्रयोगः । न्यूङ्खा निगदविशेषाः, आश्वलायनश्रौतसूत्रे ७।११ व्याख्यातास्तत्र द्रष्टव्याः ।। **उदा०**—समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयता-

---

१. किसी भी यज्ञ में वेदमन्त्रों द्वारा कर्म किया जावे, तो मन्त्रों के उच्चारण में एकश्रुति का विधान समझना चाहिये, जप न्यूङ्ख तथा साममन्त्रों को छोड़कर । अतः जो लोग यज्ञ में मन्त्रों का स्वरसहित उच्चारण करके कर्म करने की बात कहते हैं, उन का कथन इस शास्त्रवचन से माननीय नहीं हो सकता ।।

तिथिम् । आस्मिन् हव्या जुहोतन ॥ यजु० ३।१॥ अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् । अपां रेतांसि जिन्वतो३म् ॥ यजु० ३।१२॥ अत्रैकश्रुतिरभूत् ॥

भाषार्थः—[यज्ञकर्मणि] यज्ञकर्म में उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों को एकश्रुति हो जाती है, [अजपन्यूङ्खसामसु] जप न्यूङ्ख तथा साम को छोड़कर ॥ 'जप' ऐसे बोलने को कहते हैं, जिसमें पास बैठे व्यक्ति को भी सुनाई न दे । 'न्यूङ्ख' आश्वलायन श्रौतसूत्र (७।११) में पढ़े हुये निगदविशेष हैं । 'साम' सामवेद के गान को कहते हैं ॥

यहां से 'यज्ञकर्मणि' की अनुवृत्ति १।२।३५ तक जायेगी ॥

उदात्ततरे **उच्चैस्तरां वा वषट्कारः ॥१।२।३५॥**

उच्चैस्तराम् अ० ॥ वा अ० ॥ वषटकारः १।१॥ उच्चैः इत्यनेन उदात्तो गृह्यते, अयमुदात्तोऽयमुदात्तोऽयमनयोरतिशयेनोदात्तः=उच्चैस्तराम्, द्विवचनविभ० (५।३।५७) इत्यनेन तरप्प्रत्ययः, ततः किमेत्तिङ० (५।४।११) इति आम् ॥ अनु०—यज्ञकर्मणि, एकश्रुति ॥ अर्थः—यज्ञकर्मणि वषट्कारउच्चैस्तरां=उदात्ततरो विकल्पेन भवति, पक्षे एकश्रुतिर्भवति ॥ वषटकारशब्देनात्र वौषट् शब्दो गृह्यते । यद्येवं वौषड्ग्रहणमेव कस्मान्न कृतम् ? वैचित्र्यार्थम् । विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः ॥ उदा०—सोमस्याग्ने वीही३ बौ३षट् । पक्षे एकश्रुतिः—सोमस्याग्ने वीही३वौ३षट् ॥

भाषार्थः – यज्ञकर्म में [वषट्कारः] वषट्कार अर्थात् वौषट् शब्द [उच्चैस्तराम्] उदात्ततर [वा] विकल्प से होता है, पक्ष में एकश्रुति हो जाती है ॥ पूर्वसूत्र से यज्ञकर्म में नित्य ही एकश्रुति प्राप्त थी, सो विकल्प से उदात्ततर विधान कर दिया ॥

एकश्रुति एवं त्रिस्वर **विभाषा[1] छन्दसि ॥१।२।३६॥**

विभाषा १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—एकश्रुति ॥ अर्थः—छन्दसि विषये उदात्तानुदात्तस्वरितस्वराणामेकश्रुतिर्भवति विकल्पेन, पक्षे त्रैस्वर्यमेव ॥ उदा०—

---

१. यहां यह बात समझ लेने की है कि यज्ञकर्म से अतिरिक्त वेदमन्त्रों के सामान्य उच्चारण (स्वाध्याय) में प्रकृत सूत्र के विधान से उदात्त अनुदात्त स्वरित इन तीनों स्वरों से, तथा एकश्रुति (बिना स्वर के) भी बोला जा सकता है । इससे जो लोग समझते हैं। कि वेदमन्त्रों को स्वर से ही बोला जा सकता है, तो ऐसी बात नहीं। क्योंकि प्रकृत सूत्र में वेदमन्त्रों के उच्चारण के सम्बन्ध में दोनों ही पक्ष स्वीकार किये हैं, अर्थात् स्वर से बोलें अथवा एकश्रुति=तीनों स्वर रहित बोलें ॥

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥ ऋक्० १।१।१।। इष त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण० ।। यजु० १।१।। अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। निहोता सत्सि बर्हिषि ।। साम०१।१।१।। ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः । वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ।। अथर्व० १।१।१।।

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में तीनों स्वरों को [विभाषा] विकल्प से एकश्रुति हो जाती है, पक्ष में तीनों स्वर भी होते हैं ।। इस सूत्र में यज्ञकर्म की अनुवृत्ति नहीं आ रही है । अतः वेद के सामान्य उच्चारण (स्वाध्यायकाल) के समय का यह विधान है । यज्ञकर्म में एकश्रुति १।२।३४ सूत्र से होती है । पक्ष में जब तीनों स्वर होते हैं, तब क्या स्वर कहां पर होगा, यह सब परिशिष्ट में देखें ।।

तीनों स्वर

न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्य तूदात्तः ॥१।२।३७॥

न अ० ।। सुब्रह्मण्यायाम् ७।१।। स्वरितस्य ६।१।। तु अ० ।। उदात्तः १।१।। अनु०—एकश्रुति ।। अर्थः—सुब्रह्मण्यायां निगदे एकश्रुतिर्न भवति, किन्तु तत्र यः स्वरितस्तस्योदात्तादेशो भवति ।। यज्ञकर्मण्य० (१।२।३४); विभाषा छन्दसि (१।२।३६) इत्येताभ्यामेकश्रुतिः प्राप्ता प्रतिषिध्यते ।। सुब्रह्मण्या नाम निगदविशेषः । शतपथब्राह्मणे तृतीये काण्डे तृतीये प्रपाठके, चतुर्थब्राह्मणस्य सप्तदशीं कण्डिकामारभ्य विंशतिकण्डिकापर्यन्तं यो पाठस्तस्य सुब्रह्मण्येति संज्ञाऽस्ति ।। उदा०— सुब्रह्मण्यो३-मिन्द्रागच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथेर्मेष वृषणश्वस्य मेने गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जार कौशिकब्राह्मण गौतमब्रुवाण श्वः सुत्यामागच्छ मघवन् ।। श० ३।३।४।१७।।

भाषार्थः—[सुब्रह्मण्यायां] सुब्रह्मण्या नामवाले निगद में एकश्रुति [न] नहीं होती, किन्तु उस निगद में [स्वरितस्य] जो स्वरित उसको [उदात्तः] उदात्त [तु] तो हो जाता है ।।

यज्ञकर्मण्य० (१।२।३४); तथा विभाषा छन्दसि (१।२।३६) से एकश्रुति की प्राप्ति में यह सूत्र बनाया गया है ।।

शतपथब्राह्मण में 'सुब्रह्मण्या' नाम का निगदविशेष है । ऊपर संस्कृत-भाग में उसका पता दे दिया है ।।

यहां से 'स्वरितस्य' की अनुवृत्ति १।२।३८ तक जाती है ।।

देवब्रह्मणोरनुदात्तः ॥१।२।३८॥ अनुदात्त

देवब्रह्मणोः ७।२।। अनुदात्तः १।१।। स०—देवश्च ब्रह्मा च देवब्रह्माणौ, तयोः

देवब्रह्मणोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्वरितस्य ॥ अर्थः—देवब्रह्मणोः शब्दयोः स्वरितस्यानुदात्तो भवति ॥ सुब्रह्मण्यायां 'देवा ब्रह्माण' इति पठ्यते, तत्र पूर्वसूत्रेण स्वरितस्योदात्तः प्राप्नोति, अनेनानुदात्तो विधीयते ॥ उदा०—देवा ब्रह्माण आगच्छत ॥

भाषार्थः—[देवब्रह्मणोः] देव ब्रह्मन् शब्दों को स्वरित के स्थान में [अनुदात्तः] अनुदात्त होता है ॥

सुब्रह्मण्या निगद में 'देवा ब्रह्माणः' ऐसा पाठ है, उसको पूर्वसूत्र से स्वरित के स्थान में उदात्त प्राप्त था, इस सूत्र ने अनुदात्त विधान कर दिया ॥

विशेषः—यहां पर 'देवा ब्रह्माणः' इन दो शब्दों के स्वरित के स्थान में ही अनुदात्त होता है, न कि 'आगच्छत' शब्द को भी। इस विषय में देखो—ऋ० भा०, महर्षि दयानन्द कृत, तथा श० ब्रा० सायणभाष्य ३।३।१।२०, पृ० ११४ बम्बई संस्करण ॥

एकश्रुति

स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम् ॥१।२।३९॥

स्वरितात् ५।१॥ संहितायाम् ७।१॥ अनुदात्तानाम् ६।३॥ अनु०—एकश्रुति ॥ अर्थः—स्वरितात् परेषामनुदात्तानामेकश्रुतिर्भवति संहितायां विषये॥ उदा०—इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि ॥ १०।७५।५॥ माणवक जटिलकाध्यापक क्व गमिष्यसि ॥

भाषार्थः—[संहितायाम्] संहिता-विषय में (जब पदपाठ का संहितापाठ करना हो तो) [स्वरितात्] स्वरित से उत्तर [अनुदात्तानाम्] अनुदात्तों को (एक दो या बहुतों को) एकश्रुति होती है ॥

यहां से 'संहितायाम्' 'अनुदात्तानाम्' की अनुवृत्ति १।२।४० तक जायेगी ॥

अनुदात्त

उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः ॥१।२।४०॥

उदात्तस्वरितपरस्य ६।१॥ सन्नतरः १।१॥ स०—उदात्तश्च स्वरितश्चोदात्तस्वरितौ,उदात्तस्वरितौ परौ यस्मात् स उदात्तस्वरितपरः,तस्योदात्तस्वरितपरस्य, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—संहितायामनुदात्तानाम् ॥ अर्थः—उदात्तपरस्य स्वरितपरस्य चानुदात्तस्य सन्नतरः=अनुदात्ततर आदेशो भवति संहितायाम् ॥ उदा०—देवा मरुतः पृश्निमातरोऽपः । सरस्वति शुतुद्रि । स्वरितपरस्य—अध्यापक क्व ॥

भाषार्थः—[उदात्तस्वरितपरस्य] उदात्त परे है जिसके, तथा स्वरित परे है

जिसके, उस अनुदात्त को [सन्नतरः] सन्नतर अर्थात् अनुदात्ततर आदेश हो जाता है संहिता में ॥ 'सन्नतर' यह अनुदात्ततर की संज्ञा है ॥

अपृक्त एकालप्रत्ययः ॥१।२।४१॥

अपृक्तः १।१॥ एकाल् १।१॥ प्रत्ययः १।१॥ स०—एकश्चासावल् च एकाल्, कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—एकाल्प्रत्ययोऽपृक्तसंज्ञको भवति ॥ असहायवाची एकशब्दः ॥ उदा०—वाक्, लता, कुमारी । घृतस्पृक्, अर्धभाक्, पादभाक् ॥

भाषार्थः—[एकाल्] असहाय=एक अल् (जो अकेला ही है) [प्रत्ययः] प्रत्यय की [अपृक्तः] अपृक्त संज्ञा होती है ॥

तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः ॥१।२।४२॥

तत्पुरुषः १।१॥ समानाधिकरणः १।१॥ कर्मधारयः १।१॥ स०—समानमधिकरणं यस्य स समानाधिकरणः, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—समानाधिकरणपदस्तत्पुरुषः कर्मधारयसंज्ञको भवति ॥ अत्र अवयवधर्मः सामानाधिकरण्यं (पदेषु वर्त्तमानं) समुदाये (तत्पुरुषे) उपचर्यते ॥ उदा०—पाचकवृन्दारिका, परमराज्यम्, उत्तमराज्यम् ॥

भाषार्थः—[समानाधिकरणः] समान है अधिकरण (आश्रय) जिनका, ऐसे पदोंवाले [तत्पुरुषः] तत्पुरुष की [कर्मधारयः] कर्मधारय संज्ञा होती है ॥ 'समानाधिकरण' उसे कहते हैं, जहां दो धर्म एक ही द्रव्य में रहें । यहां तत्पुरुष के अवयव पदों का सामानाधिकरण्य अभिप्रेत है ॥

प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् ॥१।२।४३॥

प्रथमानिर्दिष्टम् १।१॥ समासे ७।१॥ उपसर्जनम् १।१॥ स०—प्रथमया (विभक्त्या) निर्दिष्टं प्रथमानिर्दिष्टम्, तृतीयातत्पुरुषः ॥ अर्थः—समासे=समासविधायके सूत्रे प्रथमया विभक्त्या निर्दिष्टं यत् पदं तदुपसर्जनसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—कष्टश्रितः, शङ्कुलाखण्डः, यूपदारु, वृकभयम्, राजपुरुषः, अक्षशौण्डः ॥

भाषार्थः—[समासे] समासविधान करनेवाले सूत्रों में जो [प्रथमानिर्दिष्टम्] प्रथमाविभक्ति से निर्देश किया हुआ पद है, उसकी [उपसर्जनम्] उपसर्जन' संज्ञा होती है ॥ यहां "समासे" इस पद से "समासविधान करनेवाला सूत्र" यह अर्थ लेना है ॥

यहां से "समास उपसर्जनम्" की अनुवृत्ति १।२।४४ तक जाती है ॥

एकविभक्ति चापूर्वनिपाते ॥१।२।४४॥

एकविभक्ति १।१॥ च अ० ॥ अपूर्वनिपाते ७।१॥ स०—एका विभक्तिर्यस्य

तदेकविभक्ति (पदम्), बहुव्रीहिः । पूर्वश्चासौ निपातश्चेति पूर्वनिपातः, कर्मधारयस्तत्पुरुषः । न पूर्वनिपातोऽपूर्वनिपातः, तस्मिन्नपूर्वनिपाते, नञ्तत्पुरुषः ॥ **अनु०**— समास उपसर्जनम् ॥ **अर्थः**—समासे विधीयमाने एकविभक्तिकं=नियतविभक्तिकं पदमुपसर्जनसंज्ञं भवति, (तत्सम्बन्धिपदे बहुभिर्विभक्तियुंज्यमानेऽपि) पूर्वनिपातमुपसर्जनकार्यं वर्जयित्वा ॥ **उदा०**—निष्कौशाम्बिः, निर्वाराणसिः ॥ निष्क्रान्तः कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिः । निष्क्रान्तं कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिम् । निष्क्रान्तेन कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिना । निष्क्रान्ताय कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बये । निष्क्रान्तात् कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बेः । निष्क्रान्तस्य कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बेः । निष्क्रान्ते कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बौ । हे निष्क्रान्त कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बे । सर्वत्रैवात्र 'कौशाम्ब्याः' इति नियतविभक्तिकं पञ्चम्यन्तं पदं वर्त्तते, यद्यपि तत्सम्बन्धि 'निष्क्रान्त' इति पदं बहुभिर्विभक्तिभिर्युज्यते ॥ एवं 'निर्वाराणसिः' इत्यपि बोध्यम् ॥

भाषार्थः—**समास-विधान करना है जिस (विग्रह) वाक्य से, उसमें जो पद [एकविभक्ति] नियतविभक्तिवाला हो (चाहे उससे सम्बन्धित दूसरा पद बहुत विभक्तियों से युक्त हो, तो भी), तो उसकी [च] भी उपसर्जन संज्ञा होती है, [अपूर्वनिपाते] पूर्वनिपात उपसर्जन कार्य को छोड़कर ॥**

निष्कौशाम्बिः यहां विग्रह करने पर 'कौशाम्बी' शब्द नियत पञ्चमी विभक्तिवाला ही रहता है, सो इसकी उपसर्जन संज्ञा हो गई है ॥

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ॥१।२।४५॥

अर्थवत् १।१ ॥ अधातुः १।१॥ अप्रत्ययः १।१॥ प्रातिपदिकम् १।१॥ अर्थोऽस्यास्तीत्यर्थवत्, तदस्यास्त्य० (५।२।९४) इति मतुप्प्रत्ययः ॥ स०—न धातुः अधातुः । न प्रत्ययः अप्रत्ययः, उभयत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ **अर्थः**—अर्थवत् शब्दरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं भवति, धातुं प्रत्ययञ्च वर्जयित्वा ॥ **उदा०**—पुरुषः, डित्थः, कपित्थः, कुण्डम्, पीठम् ॥

भाषार्थः—**[अर्थवत्] अर्थवान् (अर्थवाले=सार्थक) शब्दों की [प्रातिपदिकम्] प्रातिपदिक संज्ञा होती है, [अधातुरप्रत्ययः] धातु और प्रत्यय को छोड़कर ॥**

उदा०—**पुरुषः (एक पुरुष), डित्थः (लकड़ी का हाथी), कपित्थः (बन्दर के बैठने का स्थान), कुण्डम् (कूंडा), पीठम् (चौकी) ॥**

सब उदाहरणों में प्रातिपदिक संज्ञा होने से ङ्याप्प्रातिपदिकात् के अधिकार में कहे हुये स्वादि प्रत्यय हो जाते हैं । कुण्डम्, पीठम् में 'सु' को 'अम्' अतोऽम् (७।१।२४) से हो गया है ॥

यहां से 'प्रातिपदिकम्' की अनुवृत्ति १।२।४६ तक जाती है ॥

प्रातिपदिक

कृत्तद्धितसमासाश्च ॥१।२।४६॥

कृत्तद्धितसमासाः १।३॥ च अ० ॥ स०—कृत् च तद्धितश्च समासश्च कृत्तद्धितसमासाः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—प्रातिपदिकम् ॥ अर्थः - कृत्प्रत्ययान्तास्तद्धितप्रत्ययान्ताः समासाश्च प्रातिपदिकसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—कृत्—कारकः, हारकः, कर्त्ता, हर्त्ता । तद्धितः—शालीयः, औपगवः, ऐतिकायनः । समासः—राजपुरुषः, कष्टश्रितः ॥

भाषार्थः—[कृत्तद्धितसमासाः] कृत्प्रत्ययान्त, तद्धितप्रत्ययान्त, तथा समास की [च] भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है ॥

पूर्वसूत्र में प्रत्यय का निषेध कर देने से कृत्प्रत्ययान्त तथा तद्धितप्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो सकती थी, सो यहाँ कहना पड़ा ॥

सारे उदाहरणों की सिद्धि परि० १।१।१, तथा १।१।२ में की गई है, वहीं देखें। समास के उदाहरणों की सिद्धि परि० १।२।४३ में देखें ॥

ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य ॥१।२।४७॥

प्रातिपदिक

ह्रस्वः १।१॥ नपुंसके ७।१॥ प्रातिपदिकस्य ६।१॥ अर्थः—नपुंसकलिङ्गेऽर्थे वर्त्तमानं यत् प्रातिपदिकं तस्य ह्रस्वो भवति ॥ अत्र अचश्च (१।२।२८) इति परिभाषासूत्रमुपतिष्ठते । तेनाजन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—अतिरि कुलम्, अतिनु कुलम् ॥

भाषार्थः—[नपुंसके] नपुंसक लिङ्ग में वर्त्तमान जो [प्रादिपदिकस्य] प्रातिपदिक उसको [ह्रस्वः] ह्रस्व हो जाता है ॥ अचश्च (१।२।२८) परिभाषासूत्र यहां पर बैठ जाता है ॥ सिद्धि परि० १।१।४७ में देखें ॥

यहां से 'ह्रस्वः प्रातिपदिकस्य' की अनुवृत्ति १।२।४८ तक जाती है ॥

गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य ॥१।२।४८॥

प्रातिपदिक

गोस्त्रियोः ६।२॥ उपसर्जनस्य ६।१॥ स०—गौश्च स्त्री च गोस्त्रियौ, तयोः गोस्त्रियोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—ह्रस्वः प्रातिपदिकस्य ॥ अर्थः—उपसर्जनगोशब्दान्तस्य प्रातिपदिकस्य, उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तस्य च प्रातिपदिकस्य ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—गोशब्दान्तस्य—चित्रगुः शबलगुः । स्त्रीप्रत्ययान्तस्य—निष्कौशाम्बिः निर्वाराणसिः, अतिखट्वः अतिमालः ॥

भाषार्थः—[उपसर्जनस्य] उपसर्जन [गोस्त्रियोः] गोशब्दान्त प्रातिपदिक, तथा उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त प्रातिपदिक को ह्रस्व हो जाता है ॥

यहां 'स्त्री' शब्द से स्त्रियाम् (४।१।३) के अधिकार में कहे गये टाप्, डाप्, चाप्, ङीप्, ङीष्, ङीन् स्त्रीप्रत्यय लिये गये हैं, न कि 'स्त्री' शब्द लिया गया है ॥

यहां से 'स्त्री' तथा 'उपसर्जनस्य' की अनुवृत्ति १।२।४९ तक जाती है ॥

लुक् तद्धितलुकि ॥१।२।४९॥

लुक् १।१॥ तद्धितलुकि ७।१॥ स०—तद्धितस्य लुक् तद्धितलुक्, तस्मिन् तद्धितलुकि, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—स्त्री उपसर्जनस्य ॥ अर्थः—तद्धितलुकि सति उपसर्जनस्य स्त्रीप्रत्ययस्य लुग् भवति ॥ उदा०—पञ्चेन्द्रः, दशेन्द्रः । पञ्चशष्कुलम्, आमलकम्, बकुलम्, कुवलम्, बदरम् ॥

भाषार्थः—[तद्धितलुकि] तद्धित के लुक् हो जाने पर उपसर्जन स्त्रीप्रत्यय का [लुक्] हो जाता है ॥

यहां से 'तद्धितलुकि' की अनुवृत्ति १।२।५० तक जाती है ॥

इद् गोण्याः ॥१।२।५०॥

इत् १।१॥ गोण्याः ६।१॥ अनु०—तद्धितलुकि ॥ अर्थः—तद्धितलुकि सति गोणीशब्दस्येकारादेशो भवति ॥ पूर्वसूत्रेण लुकि प्राप्ते तदपवाद इकारो विधीयते ॥ उदा०—पञ्चगोणिः, दशगोणिः ॥

भाषार्थः—तद्धित—प्रत्यय के लुक् हो जाने पर [गोण्याः] गोणी शब्द को [इत्] इकारादेश हो जाता है । पूर्वसूत्र से स्त्रीप्रत्यय (ङीष्) का लुक् प्राप्त था, इकार अन्तादेश विधान कर दिया ॥ गोण शब्द से जानपदकुण्डगोण० (४।१।४२) से आवपन अर्थ में ङीष् प्रत्यय होकर गोणी शब्द बना है । सिद्धि परि० १।१।५१ में देखें ॥

लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने ॥१।२।५१॥

लुपि ७।१॥ युक्तवत् अ० ॥ व्यक्तिवचने १।२॥ स०—व्यक्तिश्च वचनञ्च व्यक्तिवचने, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ लुप्शब्देनात्र लुप्संज्ञया लुप्तस्य प्रत्ययस्यार्थ उच्यते । युक्तः प्रकृत्यर्थः, प्रत्ययार्थेन सम्बद्धत्वात् । तत्र तस्येव (५।१।११६) इति वतिः । व्यक्तिः=लिङ्गम् । वचनं=सङ्ख्या, एकत्वद्वित्वबहुत्वानि । 'व्यक्तिवचने' इति लिङ्गसङ्ख्ययोः पूर्वाचार्याणां निर्देशः ॥ अर्थः—लुपि=लुबर्थे युक्तवत्=प्रकृत्यर्थ इव

व्यक्तिवचने=लिङ्गसङ्ख्ये भवतः ॥ उदा०—पञ्चालाः, कुरवः, मगधाः, मत्स्याः, अङ्गाः, वङ्गाः, सुह्माः, पुण्ड्राः। गोदौ ग्रामः। कटुकबदरी ग्रामः ॥

भाषार्थः—प्रत्यय के [लुपि] लुप् हो जाने पर उस प्रत्यय के अर्थ में [व्यक्तिवचने] व्यक्ति=लिङ्ग, वचन=संख्या, [युक्तवत्] प्रकृत्यर्थवत् (=प्रकृत्यर्थ के समान) हों ॥ व्यक्तिवचन यह पूर्वाचार्यों का लिङ्ग और संख्या के लिये नाम है ॥

यहां से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति १।२।५२ तक जाती है ॥

विशेषणानां चाजातेः ॥१।२।५२॥ युक्तवत्

विशेषणानाम् ६।३॥ च अ० ॥ आ अ० ॥ जातेः ५।१॥ अनु०—लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने ॥ अर्थः—लुबर्थस्य यानि विशेषणानि, तेषामपि युक्तवत् (प्रकृत्यर्थवत्) लिङ्गसङ्ख्ये भवतः, आ जातेः=जातेः पूर्वम्, आजातिप्रयोगादित्यर्थः ॥ तावद् युक्तवद्भावो भवति, यावज्जातिर्न प्रक्रान्ता। यदा तु विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन वा जातिः प्रक्रम्यते, तदा युक्तवद्भावो न भवति ॥ उदा०—पञ्चालाः रमणीयाः बह्वन्नाः बहुक्षीरघृताः बहुमाल्यफलाः। गोदौ रमणीयौ बह्वन्नौ बहुक्षीरघृतौ बहुमाल्यफलौ। कटुकबदरी शोभना बहुमाल्यफला बहुक्षीरघृता ॥

भाषार्थः—प्रत्यय के लुप होने पर उस लुबर्थ के जो [विशेषणानाम्] विशेषण उनमें [च] भी युक्तवत्=प्रकृत्यर्थ के समान ही लिङ्ग और सङ्ख्या हो जाते हैं, [आजातेः] जाति के प्रयोग से पूर्व ही, अर्थात् जातिवाची कोई शब्द विशेषणरूप में या विशेष्यरूप में प्रयुक्त हो, तो उसे तथा उसके पश्चात् प्रयुक्त होनेवाले विशेषणों में युक्तवद्भाव न हो ॥ पूर्व सूत्र से लुबर्थ में प्रकृत्यर्थस्थ लिङ्ग-संख्या का अतिदेश किया गया। उसी से लुबर्थ विशेषणों में भी सिद्ध था। पुनः इस सूत्र का आरम्भ जाति तथा जातिद्वारक विशेषणों में युक्तवद्भाव के प्रतिषेधार्थ किया गया है ॥

उदा०—पञ्चालाः रमणीयाः बह्वन्नाः बहुमाल्यफलाः सम्पन्नपानीयाः (पञ्चाल बहुत सुन्दर, बहुत अन्न माल्य फलवाला, एवं खूब जलाशयोंवाला जनपद है)। गोदौ रमणीयौ बह्वन्नौ बहुमाल्यफलौ सम्पन्नपानीयौ (गोद नाम का रमणीय बहुत अन्न माल्य फलवाला, एवं खूब जलाशयोंवाला ग्राम है)। कटुकबदरी शोभना बहुमाल्यफला।

[अशिष्य-प्रकरणम्] युक्तवत्

तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात् ॥१।२।५३॥

तत् १।१॥ अशिष्यम् १।१॥ संज्ञाप्रमाणत्वात् ५।१॥ स०—शासितुं शक्यम्

शिष्यम्, न शिष्यमशिष्यम्, नञ्तत्पुरुषः। संज्ञायाः प्रमाणं संज्ञाप्रमाणम्, षष्ठीतत्पुरुषः। संज्ञाप्रमाणस्य भावः संज्ञाप्रमाणत्वम्, तस्मात् संज्ञाप्रमाणत्वात्। तस्य भावस्त्वतलौ (५।१।११८) इत्यनेन त्वप्रत्ययः॥ संज्ञानं संज्ञा=लौकिकव्यवहारः। तदित्यनेन युक्तवद्भावः परिगृह्यते। अशिष्यमित्यनेन शासितुमशक्यमिति वेदितव्यं, न तु शासितुमयोग्यम्। कुतः? 'शासु अनुशिष्टौ' इत्येतस्माद् धातोः एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् (३।१।१०९) इत्यनेन क्यप् प्रत्ययः, स च शक्यार्थे वेदितव्यः। तेनाशिष्यमित्यस्य पूर्णतया शासितुमशक्यमित्यर्थः॥ **अर्थः**—तद्=युक्तवद्भावकथनम्, अशिष्यं=शासितुमशक्यम्। कुतः? संज्ञाप्रमाणत्वात्=लौकिकव्यवहाराधीनत्वात्॥ उदा०—पञ्चालाः, वरणाः जनपदादीनां संज्ञा एताः, तत्र लिङ्गं वचनञ्च स्वभावसिद्धमेव॥

भाषार्थः—[तद्] उस उपर्युक्त युक्तवद्भाव का [अशिष्यम्] पूरा पूरा शासन=विधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह [संज्ञाप्रमाणत्वात्] लौकिक व्यवहार के अधीन है॥

विशेष—जिस प्रकार 'दारा' शब्द स्त्रीवाची होते हुये भी पुलिङ्ग बहुवचनान्त लोक में प्रयुक्त होता है; 'आपः' शब्द भी नित्य बहुवचनान्त ही है, सो यह सब लोक से ही सिद्ध है। इसका विधान पूरा-पूरा नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो अवैयाकरण लोग "पञ्चालाः में निवास अर्थ में प्रत्यय होकर उसका लुप् होने से युक्तवद्भाव हुआ है", यह नहीं जानते, वह भी तो "पञ्चालाः" का बहुवचन में ठीक प्रयोग करते ही हैं। सो लिङ्ग वचन लोकाधीन ही है, इसमें लौकिक प्रयोग ही प्रमाण है। इसी बात को महाभाष्यकार ने लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वात् लिङ्गस्य (महा० भा० ४।१।३) **ऐसा कहकर प्रकट किया है॥**

यहां से 'अशिष्यम्' की अनुवृत्ति १।२।५७ तक जाती है॥

लुप् - अशिष्य

लुब्योगाप्रख्यानात्॥१।२।५४॥

लुप् १।१॥ योगाप्रख्यानात् ५।१॥ **स०**—न प्रख्यानमप्रख्यानम्, नञ्तत्पुरुषः। योगस्याप्रख्यानं योगाप्रख्यानं, तस्मात् योगाप्रख्यानात्, षष्ठीतत्पुरुषः॥ **अनु०**—अशिष्यम्॥ **अर्थः**—लुब्विधायकं जनपदे लुप् इत्यादिकं सूत्रमप्यशिष्यं=शासितुमशक्यम्। कुतः? योगस्य=सम्बन्धस्य, अप्रख्यानात्=अप्रतीतत्वादित्यर्थः॥ पञ्चालाः, वरणा इति देशविशेषस्य संज्ञाः, नहि निवाससम्बन्धादेव पञ्चालाः, वृक्षयोगादेव वरणा इति व्यवह्रियन्ते, तत्राशक्यं लुब्विधानम्। अनन्तरसूत्रमपीदमेव सूत्रं दढीकरोति॥

भाषार्थः—[लुप्] लुप् **विधायक सूत्र** (जनपदे लुप्; वरणादिभ्यश्च इत्यादि)

भी अशिष्य हैं=नहीं कहे जा सकते [योगाप्रख्यानात्] निवासादि सम्बन्ध के अप्रतीत होने से ।। क्योंकि जो व्याकरण नहीं जानते, वे भी तो लुबर्थ शब्दों का प्रयोग करते ही हैं । पञ्चालाः वरणाः तो जनपदादि की संज्ञाविशेष हैं, न कि निवास के योग से ही पञ्चाल, एवं वृक्ष के योग से ही वरण कहा जाता है । अगला सूत्र इसी कथन को और भी पुष्ट करता है ।। अशिष्य अदर्शन

योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात् ।।१।२।५५।।

योगप्रमाणे ७।१।। च अ० ।। तदभावे ७।१।। अदर्शनम् १।१।। स्यात् तिङन्तपदम् ।। स०—योगस्य प्रमाणं योगप्रमाणं, तस्मिन् योगप्रमाणे, षष्ठीतत्पुरुषः । न भावः अभावः, नञ्तत्पुरुषः । तस्य अभावस्तदभावः, तस्मिन् तदभावे, षष्ठीतत्पुरुषः । न दर्शनमदर्शनम्, नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—अशिष्यम् ।। अर्थः—यदि पञ्चालादिशब्दा निवासाद्यर्थस्य वाचकाः स्युस्तदा निवासादिसम्बन्धाभावे पञ्चालादीनामदर्शनमप्रयोगः स्यात्, न चैवं भवति, तेन ज्ञायते नैते योगनिमित्तकाः, परं संज्ञा एताः देशविशेषस्य ।। पूर्वसूत्रार्थमेव दृढीकरोति ।।

भाषार्थः—[योगप्रमाणे] सम्बन्ध को प्रमाण=वाचक मानकर यदि संज्ञा (पञ्चालादि) हो, तो [च] भी [तदभावे] उस सम्बन्ध के हट जाने पर उस संज्ञा का [अदर्शनम् स्यात्] अदर्शन होना चाहिये, पर वह होता नहीं है। इससे पता लगता है कि पञ्चालादि जनपदविशेष की संज्ञायें हैं, योगनिमित्तक इन्हें कहना अशक्य है ।। पूर्व सूत्र के कथन को ही यह सूत्र हेतु देकर स्पष्ट करता है ।।

स्पष्टार्थ व्याख्या—यदि पञ्चालादि शब्द पञ्चालों के निवास करने के कारण ही जनपदविशेष की संज्ञाएं पड़ी होतीं, तो यदि वहां से पञ्चाल क्षत्रिय किसी कारण से सर्वथा चले जावें, तो उस जनपद की पञ्चाल संज्ञा नहीं रहनी चाहिये, क्योंकि जिस कारण से=सम्बन्ध से जनपद की पञ्चाल संज्ञा पड़ी थी, वह सम्बन्ध तो रहा नहीं, फिर भी पञ्चाल का व्यवहार उस जनपद के लिये होता है। इससे पता लगता है कि ये संज्ञायें योगनिमित्तक=निवासादि अर्थनिमित्तक नहीं हैं, परन्तु संज्ञाविशेष ही हैं ।। अशिष्य

प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात् ।।१।२।५६।।

प्रधानप्रत्ययार्थवचनम् १।१।। अर्थस्य ६।१।। अन्यप्रमाणत्वात् ५।१।। स०—प्रधानं च प्रत्ययश्च प्रधानप्रत्ययौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । अर्थस्य वचनम् अर्थवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः । प्रधानप्रत्यययोरर्थवचनं प्रधानप्रत्ययार्थवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः । अन्यस्य प्रमाणमन्यप्रमाणम् षष्ठीतत्पुरुषः । अन्यप्रमाणस्य भावः अन्यप्रमाणत्वम्,

तस्मादन्यप्रमाणत्वात् ॥ अनु०—अशिष्यम् ॥ अर्थः—प्रधानार्थवचनं प्रत्ययार्थवचनमप्यशिष्यं शासितुमशक्यम् । कुतः ? अर्थस्य अन्यप्रमाणत्वात्=लोकप्रमाणत्वात् ॥ शास्त्रापेक्षयाऽन्यो लोकः ॥ केषाञ्चिदाचार्याणामिदं मतमभूत—"प्रधानोपसर्जने प्रधानार्थं सह ब्रूतः, प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः", तदेतत् पाणिन्याचार्यः प्रत्याचष्टे। अर्थात् ये व्याकरणं न जानन्ति, तेऽपि प्रधानार्थं प्रत्ययार्थमेव प्रयुञ्जते । तस्मात् लोकाधीनमेवैतद्, अस्य लक्षणं कर्त्तुमशक्यम् ॥

भाषार्थः—[प्रधानप्रत्ययार्थवचनम्] **प्रधानार्थवचन तथा प्रत्ययार्थवचन, अर्थात् यह पद प्रधान है, तथा यह पद अप्रधान है, एवं यह प्रत्यय इस अर्थ में आता है, यह पूरा-पूरा नहीं कहा जा सकता,**[अर्थस्य] **अर्थ के** [अन्यप्रमाणत्वात्] **अन्य=लोक के अधीन होने से ॥ शास्त्र की अपेक्षा से यहां 'अन्य' शब्द लोक को कहता है । कुछ आचार्यों ने** "प्रधानोपसर्जने प्रधानार्थं सह ब्रूतः, प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः" **आदि लक्षण किये थे, सो पाणिनि मुनि उनका प्रत्याख्यान करते हैं । क्योंकि जिन्होंने व्याकरण नहीं पढ़ा, वे भी प्रधानार्थ एवं प्रत्ययार्थ को जानते ही हैं। यथा "राजपुरुषमानय" ऐसा कहने पर न राजा को लाते हैं न पुरुषमात्र को, प्रत्युत राजविशिष्ट पुरुष को ही लाते हैं, अर्थात् प्रधानार्थता को वे जानते हैं । तथा प्रत्ययार्थ के विषय में भी 'औपगवमानव' ऐसा कहने पर उपगुविशिष्ट अपत्य को लाते हैं, न उपगु को लाते हैं न केवल अपत्य को, अर्थात् प्रत्ययार्थता (अपत्यार्थता) को वे समझते हैं । सो यह सब लोकव्यवहाराधीन ही समझना चाहिये । इसके लिये पूरा लक्षण बनाना अशक्य है ॥**

अशिष्य **कालोपसर्जने च तुल्यम् ॥१।२।५७॥**

कालोपसर्जने १।२॥ च अ० ॥ तुल्यम् १।१॥ स०—कालश्च उपसर्जनञ्च कालोपसर्जने, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अशिष्यम् ॥ कालः परोक्षादिः ॥ अर्थः—कालः उपसर्जनञ्चाशिष्य शासितुमशक्यम । कुतः ? तुल्यहेतुत्वात्, अर्थात् लोकप्रमाणत्वात् ॥ तुल्यशब्दः पूर्वसूत्रोक्तस्य हेतोरनुकर्षणार्थः ॥

भाषार्थः—[कालोपसर्जने] **काल तथा उपसर्जन=गौण की परिभाषा** [च] **भी पूरी-पूरी नहीं की जा सकती,** [तुल्यम्] **तुल्य हेतु होने से, अर्थात् पूर्व सूत्र में कहे हेतु के कारण ही ॥**

कुछ आचार्य प्रातःकाल से लेकर १२ बजे रात्रि तक अद्यतन काल मानते हैं, तथा कुछ आचार्य १२ बजे रात से अगले १२ बजे रात तक अद्यतन काल मानते हैं । इसी प्रकार कुछ आचार्यों ने उपसर्जन की भी परिभाषा की है—"अप्रधानमुपसर्जनम्"।

तो यह सब अशिष्य है, लोकव्यवहाराधीन होने से, क्योंकि जिन्होंने व्याकरण नहीं पढ़ा, वे भी 'यह मैंने आज किया, यह कल किया, तथा यह उपसर्जन=गौण है, यह मुख्य है' ऐसा प्रयोग करते ही हैं, सो लोक से ही इनकी प्रतीति हो जावेगी ॥

जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् ॥१।२।५८॥

जात्याख्यायाम् ७।१॥ एकस्मिन् ७।१॥ बहुवचनम् १।१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ **स०**—जातेः आख्या जात्याख्या, तस्याम्.... षष्ठीतत्पुरुषः । बहूनां वचनं बहुवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ **अर्थः**—जात्याख्यायामेकस्मिन्नर्थे बहुवचनं (बहुत्वं) विकल्पेन भवति ॥ जातिर्नामायमेकोऽर्थः, तेनैकवचने प्राप्ते बहुवचनं पक्षे विधीयते ॥ **उदा०**—सम्पन्नाः यवाः, सम्पन्नाः व्रीहयः (अत्र बहुत्वम्), सम्पन्नो यवः, सम्पन्नो व्रीहिः (अत्रैकत्वम्) ॥ जात्यर्थस्य एकत्वे बहुत्वे च सति **द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने** (१।४।२२) इति, **बहुषु बहुवचनम्** (१।४।२१) इति च यथायोगम् एकवचनबहुवचने भवतः ॥

भाषार्थः—[जात्याख्यायाम्] जाति को कहने में [एकस्मिन्] एकत्व अर्थ में [बहुवचनम्] बहुत्व [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके हो जाता है ॥

जाति एक होती है, अतः जाति को कहने में एकत्व ही नित्य प्राप्त था, सो यहां पक्ष में बहुत्व विधान किया है ॥

यहां से 'एकस्मिन्' की अनुवृत्ति १।२।५९ तक, तथा 'बहुवचनम्' की अनुवृत्ति १।२।६० तक, एवं 'अन्यतरस्याम्' की १।२।६२ तक जाती है ॥

अस्मदो द्वयोश्च ॥१।२।५९॥

अस्मदः ६।१॥ द्वयोः ७।२॥ च अ० ॥ **अनु०**—एकस्मिन् बहुवचनम् अन्यतरस्याम् ॥ **अर्थः**—अस्मदो योऽर्थस्तस्यैकत्वे द्वित्वे च बहुत्वं विकल्पेन भवति ॥ **उदा०**—'अहं ब्रवीमि' इत्यस्य स्थाने वक्ता 'वयं ब्रूमः' इत्यपि वक्तुं शक्नोति, यद्यपि वक्ता एक एव । एवं 'आवां ब्रूवः' इत्यस्य स्थाने 'वयं ब्रूमः' इत्यपि भवति, यद्यपि द्वौ वक्तारौ स्तः ॥

भाषार्थः—[अस्मदः] अस्मद् का जो अर्थ, उस के एकत्व [च] और [द्वयोः] द्वित्व अर्थ में बहुवचन विकल्प करके होता है ॥

एकत्व में एकवचन एवं द्वित्व में द्विवचन ही प्राप्त था, बहुवचन का पक्ष में विधान कर दिया । अहं ब्रवीमि (मैं बोलता हूं) यहां बोलनेवाला यद्यपि एक है,

तो भी वह 'वयं ब्रूमः' ऐसा बहुवचन में भी बोल सकता है। इसी प्रकार द्विवचन में 'आवां ब्रूवः' के स्थान में 'वयं ब्रूमः' भी कह सकते हैं ॥

यहां से 'द्वयोः' की अनुवृत्ति १।२।६१ तक जाती है ॥

फल्गुनीप्रोष्ठपदानां च नक्षत्रे ॥१।२।६०॥

फल्गुनीप्रोष्ठपदानाम् ६।३॥ च अ०॥ नक्षत्रे ७।१॥ स०- फल्गुन्यौ च प्रोष्ठपदे च फल्गुनीप्रोष्ठपदाः, तासाम् ·····इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—द्वयोः, बहुवचनम् अन्यतरस्याम् ॥ अर्थः - फल्गुन्योः द्वयोः प्रोष्ठपदयोश्च द्वयोः नक्षत्रयोः बहुवचनं विकल्पेन भवति ॥ फल्गुन्यौ द्वे नक्षत्रे, प्रोष्ठपदे अपि द्वे, तेन द्वयोर्द्विवचनं प्राप्तम्, बहुवचनमन्यतरस्यां विधीयते ॥ उदा०—उदिताः पूर्वाः फल्गुन्यः (अत्र बहुवचनम्) उदिते पूर्वे फल्गुन्यौ (अत्र द्विवचनम्)। उदिताः पूर्वाः प्रोष्ठपदाः, उदिते पूर्वे प्रोष्ठपदे ॥

भाषार्थः—[फल्गुनीप्रोष्ठपदानाम्] फल्गुनी और प्रोष्ठपद [नक्षत्रे] नक्षत्रों के द्वित्व अर्थ में [च] भी बहुत्व अर्थ विकल्प करके होता है ॥

फल्गुनी नाम के दो नक्षत्र हैं, तथा प्रोष्ठपद नाम के भी दो नक्षत्र हैं, सो दो में द्विवचन ही प्राप्त था, पक्ष में बहुवचन भी विधान कर दिया है ॥ उदा०—उदिताः पूर्वाः फल्गुन्यः (पूर्व फल्गुनी नक्षत्र का उदय हुआ), उदिते पूर्वे फल्गुन्यौ। उदिताः पूर्वाः प्रोष्ठपदाः (पूर्व प्रोष्ठपदा नक्षत्र का उदय हुआ), उदिते पूर्वे प्रोष्ठपदे ॥

यहां से 'नक्षत्रे' की अनुवृत्ति १।२।६२ तक जाती है ॥

छन्दसि पुनर्वस्वोरेकवचनम् ॥१।२।६१॥

छन्दसि ७।१॥ पुनर्वस्वोः ६।२॥ एकवचनम् १।१॥ अनु०—नक्षत्रे, द्वयोः, अन्यतरस्याम् ॥ अर्थः—छन्दसि विषये पुनर्वस्वोः नक्षत्रयोः द्वित्वे विकल्पेनैकवचनं भवति। पुनर्वसू द्वे नक्षत्रे, तेन द्वयोर्द्विवचने प्राप्ते पक्ष एकवचनं विधीयते ॥ उदा०—पुनर्वसुर्नक्षत्रम् (अत्रैकवचनम्), पुनर्वसू नक्षत्रे (अत्र द्विवचनम्) ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में [पुनर्वस्वोः] पुनर्वसु नक्षत्र के द्वित्व अर्थ में विकल्प से [एकवचनम्] एकत्व होता है ॥ पुनर्वसु नाम के दो नक्षत्र हैं, सो द्विवचन ही प्राप्त था। पक्ष में एकत्व अर्थ का भी विधान कर दिया॥ उदा०-पुनर्वसुर्नक्षत्रम् (पुनर्वसु नाम के दो नक्षत्र), पुनर्वसू नक्षत्रे ॥

यहां से "छन्दसि एकवचनम्" की अनुवृत्ति १।२।६२ तक जाती है ॥

विशाखयोश्च ॥१।२।६२॥

विशाखयोः ६।२॥ च अ० ॥ अनु०—छन्दसि, एकवचनम्, नक्षत्रे, अन्यतर-

स्याम् ॥ अर्थः—छन्दसि विषये विशाखयोर्नक्षत्रयोर्द्वित्वे, एकवचनं विकल्पेन भवति । द्वयोर्द्विवचने प्राप्ते, पक्षे एकवचनं विधीयते ॥ उदा०—विशाखा नक्षत्रम्, विशाखे नक्षत्रे ॥

भाषार्थ—[विशाखयोः] विशाखा नक्षत्र के द्वित्व अर्थ में [च] भी एकवचन विकल्प करके होता है, छन्द विषय में ॥

विशाखा नक्षत्र भी दो हैं सो दो में द्विवचन प्राप्त था, पक्ष में एकत्व विधान कर दिया ॥

नित्य द्विवचनम्

तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम् ॥१।२।६३॥

तिष्यपुनर्वस्वोः ६।२॥ नक्षत्रद्वन्द्वे ७।१॥ बहुवचनस्य ६।१॥ द्विवचनम् १।१॥ नित्यम् १।१॥ स०—तिष्यश्च पुनर्वसू च तिष्यपुनर्वसू तयोस्तिष्यपुनर्वस्वोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । नक्षत्राणां द्वन्द्वः, नक्षत्रद्वन्द्वः, तस्मिन् नक्षत्रद्वन्द्वेः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अर्थः—तिष्यपुनर्वस्वोः नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य नित्यं द्विवचनं भवति ॥ तिष्य एकः, पुनर्वसू द्वौ, एतेषां द्वन्द्वे बहुत्वं प्राप्तं द्विवचनं नित्यं विधीयते ॥ उदा०—उदितौ तिष्यपुनर्वसू दृश्येते ॥

भाषार्थः—[तिष्यपुनर्वस्वोः] तिष्य तथा पुनर्वसु शब्दों के [नक्षत्र द्वन्द्वे] नक्षत्रविषयक द्वन्द्वसमास में [बहुवचनस्य] बहुवचन के स्थान में [नित्यम्] नित्य ही [द्विवचनम्] द्विवचन हो जाता है ॥

तिष्य नक्षत्र एक है, तथा पुनर्वसु दो हैं, सो इनके द्वन्द्वसमास में बहुवचन ही प्राप्त था, नित्य ही द्विवचन विधान कर दिया ॥

उदा०—उदितौ तिष्यपुनर्वसू दृश्येते (उदित हुये तिष्य और पुनर्वसू नक्षत्र दिखाई दे रहे हैं) ॥

[एकशेष प्रकरणम्] एकशेष

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ॥१।२।६४॥

सरूपाणाम् ६।३॥ एकशेषः १।१॥ एकविभक्तौ ७।१॥ स०—समानं रूपं येषां ते सरूपास्तेषां सरूपाणां, बहुव्रीहिः । ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूप० (६।३।८३) इत्यनेन समानस्य सादेशः । एका चासौ विभक्तिश्च, एकविभक्तिः, तस्यामेकविभक्तौ, कर्मधारयस्तत्पुरुषः । शिष्यते यः स शेषः, एकश्चासौ शेषश्च, एक

शेषः, कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—सरूपाणां शब्दानामेकविभक्तौ परत एकशेषो भवति, अर्थादिकः शिष्यते, इतरे निवर्त्तन्ते ॥ उदा०—वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षौ । वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षाः ॥

भाषार्थः—[सरूपाणाम्] समान रूपवाले शब्दों में से [एकशेषः] एक शेष रह जाता है, अन्य हट जाते हैं, [एकविभक्तौ] एक (समान) विभक्ति के परे रहते ॥

वृक्षश्च, वृक्षश्च यहाँ दोनों वृक्ष शब्द समान रूपवाले हैं, तथा एक ही प्रथमा विभक्ति परे हैं, सो एक शेष रह गया, तथा दूसरा हट गया। दो वृक्षों का बोध कराना है अतः द्विवचन 'वृक्षौ' में हो ही जायेगा। इसी प्रकार वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षाः में भी दो हट गये, एक शेष रह गया, आगे ४-५ वृक्षों के होने पर भी ऐसा ही जानें। अभिप्राय यह है कि जहां कई वस्तुओं का बोध कराना हो, जैसे "यह वृक्ष है, यह वृक्ष है" तो वहां कई बार सरूप शब्दों का प्रयोग न करके एक बार ही उस शब्द का प्रयोग करके उन सारी वस्तुओं का बोध हो जाता है। नहीं तो जितनी वस्तुएं होतीं उतनी बार उस शब्द का प्रयोग करना पड़ता अतः यह सूत्र बनाया ॥

यहाँ से 'शेषः' की अनुवृत्ति १।२।७३ तक जाती है ॥

एकशेष

वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः ॥१।२।६५॥

वृद्धः १।१॥ यूना ३।१॥ तल्लक्षणः १।१॥ चेत् अ० ॥ एव अ० ॥ विशेषः १।१॥ स०-सः गोत्रप्रत्ययो युवप्रत्ययश्च लक्षणं निमित्तमस्य स तल्लक्षणः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०--शेषः ॥ अर्थः—वृद्धशब्देनात्र गोत्रमुच्यते। विशेषः=वैरूप्यम् । गोत्रप्रत्ययान्तश्शब्दः, यूना सह युवप्रत्ययान्तेन सह शिष्यते युवा निवर्त्तते तल्लक्षणश्चेत्=वृद्धयुवनिमित्तकमेव चेत् विशेषो भवेत् अर्थात् समानायामाकृतौ वृद्धयुवप्रत्ययनिमित्तकमेव चेद् वैरूप्यं=भेदो भवेदन्यत् सर्वं समानं स्यात् ॥ अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् (४।१।१६२) इत्यनेन पौत्रप्रभृत्यपत्यं गोत्रसंज्ञं भवति, तद्गोत्रमत्र वृद्धशब्देनोच्यते, पूर्वाचार्यस्य संज्ञेषा। जीवति तु वंश्ये युवा (४।१।१६३) इत्यादिभिश्च युवसंज्ञा विहिता ॥ उदा०—गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ, वात्स्यश्च वात्स्यायनश्च वात्स्यौ ॥

भाषार्थः—[वृद्धः] वृद्ध (गोत्र) प्रत्ययान्त शब्द [यूना] युवा प्रत्ययान्त शब्द के साथ शेष रह जाता है [चेत्] यदि [तल्लक्षणः] वृद्धयुवप्रत्यय निमित्तक [एव] ही [विशेषः] भेद हो, अर्थात् अन्य सब प्रकृति आदि समान हों ॥ वृद्ध शब्द से यहाँ गोत्र लिया गया है, पूर्वाचार्यों की यह गोत्र के लिये संज्ञा है ॥

गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च यहाँ गर्ग शब्द से गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५) से

गोत्र अर्थ में यञ् प्रत्यय आकर तद्धिते० (७।२।११७) से आदि अच को वृद्धि एवं यस्येति च (६।४।१४८) से अकार का लोप होकर, वृद्धप्रत्यान्त गार्ग्य शब्द बना है, तथा उसी गार्ग्य शब्द से यञिञोश्च (४।१।१०१) से युवा प्रत्यय फक् होकर, फक् को आयनेयीनीयियः० (७।१।२) से 'आयन्' होकर गार्ग्यायण बना है, सो गार्ग्य तथा गार्ग्यायण इन दोनों शब्दों में, एक में गोत्र प्रत्यय 'यञ्' है तथा दूसरे में यञ् के पश्चात् युवप्रत्यय फक् है, ये वृद्ध युवा प्रत्यय ही भिन्न हैं, शेष इन दोनों की प्रकृति समान ही है, अतः समान आकृति (प्रकृति) वाले ये दोनों शब्द है, केवल तल्लक्षण ही विशेष है। सो प्रकृत सूत्र से वृद्धप्रत्ययान्त 'गार्ग्य' शेष रह गया, गार्ग्यायण हट गया तो 'गार्ग्यौ' बना। गार्ग्यौ कहने से 'गार्ग्य' (गर्ग का पौत्र) एवं गार्ग्यायण (गर्ग का प्रपौत्र) दोनों की प्रतीति होगी। इसी प्रकार वात्स्यौ (वत्स के पौत्र तथा प्रपौत्र) में भी समझें॥

यहां से 'वृद्धो यूना' की अनुवृत्ति १।२।६६ तक तथा "तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः" की १।२।६६ तक जाती है॥

स्त्री पुंवच्च ॥१।२।६६॥

स्त्री १।१॥ पुंवत् अ०॥ च अ०॥ अनु०—वृद्धो यूना तल्लणश्चेदेव विशेषः, शेषः॥ अर्थः—वृद्धा=गोत्रप्रत्ययान्ता स्त्री यूना सह शिष्यते,युवा निवर्त्तते,सा च स्त्री पुंवद् भवति, वृद्धयुवनिमित्तकमेव चेत् वैरूप्यं स्यात्॥ उदा०—गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ, वात्सी च वात्स्यायनश्च वात्स्यौ॥

भाषार्थः—गोत्रप्रत्यान्त जो [स्त्री] स्त्रीलिंग शब्द हो, वह युवप्रत्यान्त शब्द के साथ शेष रह जाता है, और उस स्त्रीलिंग गोत्रप्रत्यान्त शब्द को [पुंवत्] पुंवत् कार्य [च] भी हो जाता है, यदि उन दोनों शब्दों में वृद्धयुवप्रत्यय निमित्तक ही वैरूप्य हो और सब समान हों॥ गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ,यहां गार्ग्य गोत्रप्रत्ययान्त शब्द से यञश्च (४।१।१६) से ङीप् प्रत्यय होकर 'गार्ग्य ङीप्' रहा। यस्येति च (६।४।१४८) से अकार लोप, एवं हलस्तद्धितस्य (६।४।१५०) से यकार लोप होकर गार्ग् ई=गार्गी गोत्रप्रत्ययान्त स्त्रीलिंगवाची शब्द बना है सो प्रकृत सूत्र से गार्गी शेष रह गया, गार्ग्यायण युवाप्रत्ययान्त हट गया, तथा प्रकृत सूत्र से ही गार्गी को पुंवद्-भाव हो जाने से, गार्गी का ङीप् हटकर पुलिंग के समान 'गार्ग्य' रूप रह गया, तो गार्ग्यौ बन गया। गार्ग्यौ से गार्गी (गर्ग की पौत्री) एवं गार्ग्यायण (गर्ग के प्रपौत्र) दोनों का ही बोध हुआ करेगा॥

पुमान् स्त्रिया ॥१।२।६७॥

पुमान् १।१॥ स्त्रिया ३।१॥ अनु०—तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः, शेषः॥ अर्थः—

पुमान् स्त्रिया सह शिष्यते स्त्री निवर्त्तते तल्लक्षण एव चेत् विशेषो भवेत्, लिङ्गभेद एव चेत् स्यादन्यत् प्रकृत्यादिकं सर्वं समानं भवेदित्यर्थः ॥ उदा०—ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणौ, कुक्कुटश्च कुक्कुटी च कुक्कुटौ ॥

भाषार्थः—[पुमान्] पुंलिंग शब्द [स्त्रिया] स्त्रीलिंग शब्द के साथ शेष रह जाता है, स्त्रीलिंग शब्द हट जाता है, यदि उन शब्दों में स्त्रीत्व पुंस्त्व कृत ही विशेष हो, अन्य प्रकृति आदि सब समान ही हों ॥ 'ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च' में प्रकृति दोनों की एक है, एक पुंल्लिंग है, दूसरा स्त्रीलिंग है। सो पुंल्लिंग 'ब्राह्मण' शब्द शेष रह गया, तो (ब्राह्मणौ ब्राह्मण और ब्राह्मणी) बना। इसी प्रकार कुक्कटौ (मुर्गा और मुर्गी) में भी जानें ॥

एकशेष

भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् ॥१।२।६८॥

भ्रातृपुत्रौ १।२॥ स्वसृदुहितृभ्याम् ३।२॥ स०—भ्राता च पुत्रश्च, भ्रातृपुत्रौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। स्वसा च दुहिता च स्वसृदुहितरौ ताभ्यां स्वसृदुहितृभ्याम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—शेषः ॥ अर्थः—भ्रातृपुत्रौ शब्दौ यथाक्रमं स्वसृदुहितृभ्यां शब्दाभ्यां सह शिष्येते स्वसृदुहितरौ निवर्त्तेते ॥ उदा०—भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ। पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ ॥

भाषार्थः—[भ्रातृपुत्रौ] भ्रातृ और पुत्र शब्द यथाक्रम [स्वसृदुहितृभ्याम्] स्वसृ और दुहितृ शब्दों के साथ शेष रह जाते हैं, अर्थात् भ्रातृ और स्वसृ में से भ्रातृ तथा पुत्र और दुहितृ में से पुत्र शेष रह जाता है,शेष स्वसृ दुहितृ शब्द हट जाते हैं॥

यहां भ्रातरौ का अर्थ भाई और बहिन, तथा पुत्रौ का अर्थ पुत्र और पुत्री होगा, न कि दो भाई एवं दो पुत्र होगा ॥

एकशेष विकल्प

नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् ॥१।२।६९॥

नपुंसकम् १।१॥ अनपुंसकेन ३।१॥ एकवत् अ० ॥ च अ० ॥ अस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ स०—न नपुंसकम् अनपुंसकम् तेनानपुंसकेन, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः, शेषः ॥ अर्थः—नपुंसकगुणविशिष्टश्शब्दोऽनपुंसकेन=स्त्रीपुंल्लिङ्गगुणविशिष्टेन शब्देन सह शिष्यते, स्त्रीपुंल्लिङ्गगुणविशिष्टौ शब्दौ निवर्त्तेते, अस्य नपुंसकलिङ्गशब्दस्य च विकल्पेनैकवत् कार्यं भवति नपुंसकानपुंसकगुणस्यैव चेद् वैरूप्यं स्यात् ॥ उदा०—शुक्लश्च कम्बलः, शुक्ला च शाटिका, शुक्लं च वस्त्रम् तदिदं शुक्लम्। पक्षे=तानीमानि शुक्लानि, (बहुवचनमभूत्) ॥

भाषार्थः—[नपुंसकम्]नपुंसकलिंग शब्द[अनपुंसकेन] नपुंसकलिंग भिन्न शब्दों के साथ, अर्थात् स्त्रीलिंग पुंलिंग शब्दों के साथ शेष रह जाता है, तथा स्त्रीलिंग

पुंलिंग शब्द हट जाते हैं, एवं [अस्य] उस नपुंसकलिंग शब्द को [एकवत्] एकवत् कार्य [च] भी [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके हो जाता, यदि उन शब्दों में नपुंसक गुण एवं अनपुंसकगुण का ही वैशिष्ट्य हो, शेष प्रकृति आदि समान ही हों ॥

"शुक्लः कम्बलः" यह पुंलिंग है, "शुक्ला शाटिका" यह स्त्रीलिंग है, "शुक्लं वस्त्रम्" यह नपुंसकलिंग है तथा शुक्लः, शुक्ला, शुक्लम् में नपुंसकत्व अनपुंसकत्व गुण का ही वैशिष्ट्य है, प्रकृति तो समान ही है, सो इस सूत्र से नपुंसकलिंग वाला "शुक्लम्" ही शेष रहा, शेष हट गये, इसी प्रकार इस 'शुक्लम्' से कम्बल, शाटिका, वस्त्र तीनों का बोध कराना है, सो बहुवचन ही होना चाहिये था पर इसी सूत्र से पक्ष में 'एकवत्' का विधान किया है सो एकवचन हो कर 'तदिदं शुक्लम्' (ये सब सफेद हैं) बना। पक्ष में 'तानीमानि शुक्लानि' भी बन गया है ॥

यहां से "अन्यतरस्याम्" की अनुवृत्ति १।२।७१ तक जाती है ॥

पिता मात्रा ॥१।२।७०॥   एकशेष विकल्प

पिता १।१॥ मात्रा ३।१॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, शेषः ॥ अर्थः—मातृशब्देन सहवचने पितृशब्दः शिष्यते विकल्पेन, मातृशब्दो निवर्त्तते ॥ उदा०—माता च पिता च पितरौ। पक्षे-मातापितरौ ॥

भाषार्थः—[मात्रा] मातृ शब्द के साथ [पिता] पितृ शब्द विकल्प से शेष रह जाता है, मातृ शब्द हट जाता है।

माता च पिता च पितरौ (माता और पिता) में माता हट गया है, पक्ष में मातापितरौ भी प्रयोग होगा॥

श्वशुरः श्वश्र्वा ॥१।२।७१॥   एकशेष विकल्प

श्वशुरः १।१॥ श्वश्र्वा ३।१॥ अनु०—अन्यतरस्याम्। शेषः ॥ अर्थः—श्वश्रूशब्देन सहवचने श्वशुरः शिष्यते विकल्पेन, श्वश्रूः निवर्त्तते ॥ उदा०—श्वशुरश्च श्वश्रूश्च श्वशुरौ। पक्षे-श्वश्रूश्वशुरौ।

भाषार्थः—[श्वश्र्वा] श्वश्रू शब्द के साथ [श्वशुरः] श्वशुर शब्द विकल्प से शेष रह जाता है श्वश्रू हट जाता है। पक्ष में वह भी रहेगा ॥ उदा०—श्वशुरौ (सास और श्वसुर), श्वश्रूश्वशुरौ ॥

त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् ॥ १।२।७२॥   एकशेष

त्यदादीनि १।३॥ सर्वैः ३।३॥ नित्यम् १।१॥ स०—त्यद् आदि येषां तानि, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—शेषः ॥ अर्थः—त्यदादीनि शब्दरूपाणि सर्वैः सहवचने नित्यं

शिष्यन्ते, अन्यानि निवर्त्तन्ते ॥ उदा०—स च देवदत्तश्च तौ, यश्च यज्ञदत्तश्च यौ, स च यश्च यौ ॥

भाषार्थः—[त्यदादीनि] त्यदादि शब्द रूप [सर्वैः] सबके साथ अर्थात् त्यदादियों के साथ या त्यदादि से अन्यों के साथ भी [नित्यम्] नित्य ही शेष रह जाते हैं, अन्य हट जाते हैं ॥ त्यदादि गण सर्वादि गण के अन्तर्गत ही पढ़ा है ॥ स च यज्ञदत्तश्च में 'स' त्यदादि है एवं यज्ञदत्त त्यदादि से भिन्न है, सो 'स' शेष रह गया, यज्ञदत्त हट गया है । स च यश्च में दोनों त्यदादि हैं सो कौन शेष रहे कौन हटे ? इस बात को त्यदादीनां मिथो यद्यत्परं तत् तच्छिष्यते (वा० १।२।७२) वार्तिक ने बताया कि त्यदादियों में क्रम से जो परे परे के हैं वे शेष रह जाते हैं, अगले हट जाते हैं सो 'स च यश्च' में परला ही शेष रहा, तो 'यौ' (वह और जो) बना ॥

एकशेष

ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री ॥१।२।७३॥

ग्राम्यपशुसङ्घेषु७।३॥अतरुणेषु१।१॥स्त्री१।१॥ ग्रामे भवा ग्राम्याः, ग्रामाद्यखञौ (४।२।६३) इत्यनेन यत् प्रत्ययः ॥ स०—ग्राम्याश्च ते पशवश्च, ग्राम्यपशवः, कर्मधारयस्तत्पुरुषः । ग्राम्यपशूनां सङ्घाः=समूहाः, ग्राम्यपशुसङ्घास्तेषु ग्राम्यपशुसङ्घेषु षष्ठीतत्पुरुषः न विद्यन्ते तरुणा येषु सङ्घेषु तेऽतरुणास्तेषु, अतरुणेषु बहुव्रीहिः ॥ अनु०—शेषः । अर्थः—अतरुणेषु ग्राम्यपशुसङ्घेषु स्त्री शिष्यते पुमान् निवर्त्तते ॥ पुमान् स्त्रिया (१।२।६७) इत्यनेन पुंसः शेषे प्राप्ते स्त्रीशेषो विधीयते ॥ उदा०—गावश्च वृषभाश्च=गाव इमाश्चरन्ति, महिषाश्च महिष्यश्च महिष्य इमाश्चरन्ति ॥

भाषार्थः—[अतरुणेषु] तरुणों से रहित [ग्राम्यपशुसङ्घेषु] ग्रामीण पशुओं के समूह में [स्त्री] स्त्री (स्त्री पशु) शेष रह जाता है, पुमान् (नर) हट जाते हैं ॥

यह सूत्र पुमान स्त्रिया का अपवाद है । उससे पुँलिंग शब्द का शेष प्राप्त था, इसने ग्राम्य पशुओं के झुण्ड को कहने में स्त्रीलिंग शब्द को शेष कर दिया, पुँलिंग शब्द हट गया ॥ गावश्च वृषभाश्च में गौ स्त्रीलिंग शब्द है, सो वह शेष रह गया, वृषभ पुँलिंग हट गया, तो गावः (गाय और बैल) बना । इसी प्रकार 'महिष्य इमाः' में जानें ॥

गाय और बैलों का समूह साथ साथ चरता हो तो लोक में भी "ये गायें चरती हैं" ऐसा कहा जाता है, न कि "ये गाय बैल चरते हैं" ऐसा कहा जाता है, सो वही इस सूत्र ने विधान कर दिया ॥

॥ इति द्वितीयः पादः ॥

—:०:—

तृतीयः पादः

धातु

भूवादयो धातवः ॥१।३।१॥

भूवादयः १।३॥ धातवः १।३॥ स०—भूश्च वाश्च भूवौ, भूवौ आदी येषां ते भूवादयः, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—भू इत्येवमादयः वा इत्येवंप्रकारकाः क्रिया-वचनाः शब्दा धातुसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—भवति, पठति, वाति ॥

भाषार्थः—[भूवादयः] भू जिनके आदि में है तथा 'वा' (धातु) के समान जो क्रियावाची शब्द हैं उनकी [धातवः] धातु संज्ञा होती है ॥ यहां 'भू' के साथ जो आदि शब्द सम्बन्धित होगा वह व्यवस्था वाची है, "भू आदि में है जिनके, उनकी" तथा 'वा' के साथ जो आदि शब्द लगेगा, वह प्रकारवाची है, "वा के प्रकारवाली (क्रियावाची)" यह अर्थ होता है, अतः 'भू' जो पृथिवी का वाचक है उसकी धातु संज्ञा नहीं होती, इसी प्रकार 'वा गतिगन्धनयोः' जो क्रियावाची है उसी 'वा' की धातु संज्ञा होती है, 'वा' जो विकल्पार्थक निपात है, उसकी नहीं होती, क्योंकि ये सब "वाप्रकारक"=क्रियावाची नहीं हैं। धातु संज्ञा होने से धातोः (३।१।९१) के अधिकार में कहे, तिबादि प्रत्यय आ जाते हैं ॥

[इत्संज्ञाप्रकरण]

इत्

उपदेशेऽजनुनासिक इत् ॥१।३।२॥

उपदेशे ७।१॥ अच् १।१॥ अनुनासिकः १।१॥ इत् १।१॥ अर्थः—उपदेशे योऽनुनासिकोऽच् तस्य इत्संज्ञा भवति ॥ उदा०—पठँ=पठति, वदँ=वदति, एधँ= एधते, सुँ ॥

भाषार्थः—[उपदेशे] उपदेश में होनेवाला जो [अनुनासिकः] अनुनासिक (मुख और नासिका से बोला जानेवाला) [अच्] अच् उसकी [इत्] इत् संज्ञा होती है ॥

उपदेश यहां पाणिनि मुनि के बनाये ५ ग्रन्थों का नाम है—

(१) अष्टाध्यायी, (२) धातुपाठ, (३) उणादि सूत्र, (४) गणपाठ, (५) लिङ्गानुशासन, इनमें होनेवाले अनुनासिक अच् की इत् संज्ञा होती है ॥ पठ इत्यादियों में 'अ' अनुनासिक पाणिनि जी ने पढ़ा था, जो 'पठँ' ऐसा था, पर अब ये

अनुनासिक चिह्न लगभग २०००वर्षों से लुप्त हो गये हैं, जो अब सर्वथा बताने ही पड़ते हैं ॥

इत् संज्ञा का प्रयोजन उस इत्संज्ञक का तस्य लोपः (१।३।८)से लोप करना है॥

यहां से 'उपदेशे' की तथा 'इत्' की अनुवृत्ति १।३।८ तक जाती है ॥

हलन्त्यम् ॥१।३।३॥

हल् १।१॥ अन्त्यम् १।१॥ अन्ते भवमन्त्यं, दिगादित्वात् (४।३।५४) यत् प्रत्ययः ॥ स०—हस्य ल् हल्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ हल् च हल् च=हल् सरूपाणा-मित्यनेन (१।२।६४) एकशेषः, जातिविवक्षायामेकवचनञ्च, अनया रीत्या हल् प्रत्या-हारो निष्पद्यते ॥ अनु०—उपदेशे, इत् ॥ अर्थः—उपदेशेऽन्त्यं हल् इत्संज्ञकं भवति ॥ उदा०—अइउण् इति णकारस्य । ऋलृक् इति ककारस्य ॥

भाषार्थः—उपदेश में जो [अन्त्यम्] अन्तिम [हल्] हल् उसकी इत् संज्ञा होती है ॥

विशेषः—यहां यह बात विचार की है, कि प्रथम प्रत्याहार सूत्र 'हल्' के 'ल्' की इत् संज्ञा हो, तो हल् प्रत्याहार बने, तब हलन्त्यम् सूत्र बने, पर जब तक हलन्त्यम् सूत्र नहीं बनता, तब तक 'हल्' के 'ल्' की इत् संज्ञा हो ही नहीं सकती, सो इतरेतराश्रय दोष आता है, उस दोष को हटाने के लिये 'हस्य ल्' ऐसा समास किया गया है, पुनः हल् च हल् का एकशेष किया है अर्थात् प्रत्याहार वाले हल् सूत्र के "ह के समीप जो 'ल्' उसकी इत् संज्ञा होती है ऐसा कहने से 'हल्' प्रत्याहार बन गया । पश्चात् हल् का एकशेष करने पर "अन्तिम हल् की इत् संज्ञा होती है" यह अर्थ हो जाता है, सो दोष नहीं रहता । वस्तुतः यह द्वितीयावृत्ति का विषय है, पर समास की उपयोगिता दिखाने के लिये यह सब लिख दिया है ॥ यहां से 'हलन्त्यम्' की अनुवृत्ति १।३।४ तक जायगी ।

न विभक्तौ तुस्माः ॥१।३।४॥

न अ० ॥ विभक्तौ ७।१॥ तुस्माः १।३॥ स०—तुश्च सश्च मश्च तुस्माः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—उपदेशे हलन्त्यम् इत् ॥ अर्थः—विभक्तौ वर्तमानाना-मन्त्यानां तवर्गसकारमकाराणामित्संज्ञा न भवति ॥ पूर्वेणान्त्यं हल् इत्संज्ञकं प्राप्त-मनेन प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—रामात् वृक्षात्, इति तकारस्य । सकारः—जस्, शस्, भिस्, ङस्, ओस् । मकारः—अम्, आम् ॥

भाषार्थः—[विभक्तौ] विभक्ति में वर्त्तमान जो [तुस्माः] तवर्ग सकार और मकार, वे अन्तिम हल् होते हुये भी इत्संज्ञक [न] नहीं होते ॥ यह पूर्व सूत्र का अपवाद है ॥

रामात् में जो ङसि के स्थान में टाङसिङसामिनात्स्याः (७।१।१२) से 'आत्' हुआ था, वह स्थानिवत् होकर विभक्ति का तकार था। सो पूर्व सूत्र से इत् संज्ञा प्राप्त थी, इस सूत्र से निषेध हो गया। इसी प्रकार जस् ङस् अम् इत्यादि के अन्तिम सकार मकार की इत् संज्ञा पूर्व सूत्र से होनी चाहिये थी, पर वह इनके विभक्ति में वर्त्तमान होने से नहीं होती ॥

आदिर्ञिटुडवः ॥१।३।५॥

आदिः १।१॥ ञिटुडवः १।३॥ स०—ञिश्च टुश्च डुश्च ञिटुडवः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—उपदेशे इत् ॥ अर्थः—उपदेशे आदौ वर्त्तमानानां ञि, टु, डु इत्येतेषामित्संज्ञा भवति ॥ उदा०—ञिमिदा=मिन्नः । ञिधृषा=धृष्टः । ञिक्ष्विदा=क्ष्विण्णः । ञिइन्धी=इद्धः । टुवेपृ=वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते । टुओश्वि=श्वयथुः । डुपचष्=पक्त्रिमम् । डुवप्=उप्त्रिमम् । डुकृञ्=कृत्रिमम् ॥

भाषार्थः—उपदेश में [आदिः] आदि में वर्त्तमान जो [ञिटुडवः] ञि टु और डु उनकी इत् संज्ञा होती है ॥

यहां से 'आदिः' की अनुवृत्ति १।३।८ तक जाती है ॥

षः प्रत्ययस्य ॥१।३।६॥

षः १।१॥ प्रत्ययस्य ६।१॥ अनु०—आदिः, उपदेशे इत् ॥ अर्थः—उपदेशे प्रत्ययस्य आदिः षकार इत्संज्ञको भवति ॥ उदा०—नर्त्तकी, रजकी ॥

भाषार्थः—उपदेश में [प्रत्ययस्य] प्रत्यय के आदि में जो [षः] षकार उसकी इत् संज्ञा होती है ॥

यहाँ से 'प्रत्ययस्य' की अनुवृत्ति १।३।८ तक जाती है ॥

चुटू ॥१।३।७॥

चुटू १।२॥ स०—चुश्च टुश्च चुटू, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—प्रत्ययस्य, आदिः, उपदेशे इत् ॥ अर्थः—उपदेशे प्रत्ययस्य आदी चवर्गटवर्गौ इत्संज्ञकौ भवतः ॥ उदा०—कौञ्जायन्यः । ब्राह्मणाः । शाण्डिक्यः । टवर्गः—वाचा । कुरुचरी, मद्रचरी । उपसरजः, मन्दुरजः । आन्नः ॥

भाषार्थः—उपदेश में प्रत्यय के आदि के जो [चुटू] चवर्ग और टवर्ग उनकी इत् संज्ञा हो जाती है ॥

इत् लशक्वतद्धिते ।।१।३।८।।

लशकु १।१।। अतद्धिते ७।१।। स०—लश्च शश्च कुश्च लशकु, समाहारद्वन्द्वः । न तद्धितः अतद्धितः, तस्मिन् अतद्धिते, नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—प्रत्ययस्य, आदिः, उपदेशे इत् ।। अर्थः—उपदेशे प्रत्ययस्यादयः लकारशकारकवर्गाः इत्संज्ञका भवन्ति, तद्धितं वर्जयित्वा ।। उदा०—लकारः—चयनम्, जयनम् । शकारः—भवति, पचति । कवर्गः—भुक्तः, भुक्तवान् । प्रियंवदः, वशंवदः । ग्लास्नुः जिष्णुः भूष्णुः । भङ्गुरम् । वाचः ।।

भाषार्थः— उपदेश में प्रत्यय के आदि में वर्त्तमान जो [लशकु] लकार शकार और कवर्ग उनकी इत् संज्ञा होती है, [अतद्धिते] तद्धित को छोड़कर ।।

इत् तस्य लोपः ।।१।३।९।।

तस्य ६।१।। लोपः १।१।। अर्थः—तस्येत्संज्ञकस्य लोपो भवति ।। उदाहरणानि पूर्वसूत्रेष्वेव द्रष्टव्यानि ।।

भाषार्थः—[तस्य] जिसकी इत् संज्ञा होती है, उसका (सारे का) [लोपः] लोप हो जाता है ।।

यथा सङ्ख्य यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् ।।१।३।१०।।

यथासङ्ख्यम् अ० ।। अनुदेशः १।१।। समानाम् ६।३।। स०—सङ्ख्यामनतिक्रम्य यथासंख्यम्, अव्ययीभावः ।। अर्थः—समानाम्=समसङ्ख्यानामनुदेशः=पश्चात् कथनम्, यथासङ्ख्यं=सङ्ख्याक्रमेण भवति ।। उदा०—इको यणचि, तूदीशलातुरवर्मतीकूचवाराड्ढक्छण्ढञ्यकः (४।३।९४) । तूदीशब्दात् ढक् प्रत्ययः=तौदेयः । शलातुरात् छण्=शालातुरीयः । वर्मतीशब्दात् ढञ्=वार्मतेयः । कूचवारात् यक्=कौचवार्यः, अत्र क्रमेणानुदेशा भवन्ति ।।

भाषार्थः—[समानाम्] सम सङ्ख्यावाले शब्दों के स्थान में [अनुदेशः] पीछे आनेवाले शब्द [यथासङ्ख्यम्] यथाक्रम, अर्थात् पहले स्थान में पहला, दूसरे के स्थान में दूसरा इत्यादि होते हैं ।।

उदा०—इको यणचि । तूदीशला० (४।३।९४) तौदेयः (तूदी प्रदेश का रहनेवाला) । शालातुरीयः[1] (शलातुर ग्राम का रहनेवाला) वार्मतेयः (वर्मती नगर का रहने वाला)। कौचवार्यः (कूचवार प्रदेश का रहनेवाला) ।।

---

१. शलातुर ग्राम पंजाब का एक ऐतिहासिक ग्राम था । कहा जाता है कि यहीं पाणिनि जी का जन्म हुआ था ।

उदाहरणों में पहले को पहला, दूसरे को दूसरा, तीसरे को तीसरा अनुदेश हुआ है। इको यणचि में क्रम से इक्=इ, उ, ऋ, लृ को यण्=य्, व्, र्, ल् होते हैं। इसी प्रकार तूदी शब्द से ढक्, शलातुर से छण् आदि क्रम से ही हुये हैं ।। सिद्धियों में पूर्ववत् ही आदि अच् को वृद्धि (७।२।११७), तथा आयनेयीनीयियः० (७।१।२) से 'ढ' को एय्, 'छ' को 'ईय्' आदि हुए हैं, ऐसा जानें । और कुछ विशेष नहीं है ।।

स्वरित से अधिकार **स्वरितेनाधिकारः ।।१।३।११।।**[1]

स्वरितेन ३।१।। अधिकारः १।१।। **अर्थः**—स्वरितेन चिह्नेनाधिकारो वेदितव्यः ।। **उदा०**—प्रत्ययः, परश्च (३।१।१,२), धातोः (३।१।९१), अङ्गस्य (६।४।१)।।

भाषार्थः—[स्वरितेन] **जहां स्वरित का चिह्न (ऊपर खड़ी ऊर्ध्व रेखा) हो, उसे** [अधिकारः] **अधिकार सूत्र जानना चाहिये ।।**

[आत्मनेपद-प्रकरणम्] आत्मनेपद

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् ।।१।३।१२।।

अनुदात्तङितः ५।१।। आत्मनेपदम् १।१।। **स०**—अनुदात्तश्च ङश्च अनुदात्तङौ, अनुदात्तङौ इतौ यस्य, स अनुदात्तङित्, तस्मात् अनुदात्तङितः, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ।। **अर्थः**—अनुदात्तेतो ङितश्च धातोः[2] आत्मनेपदं भवति ।। **उदा०**—आस—आस्ते । वस—वस्ते । एध—एधते । षूङ्—सूते । शीङ्—शेते ।।

भाषार्थः—[अनुदात्तङितः] **अनुदात्त जिसका इत्संज्ञक हो उस धातु से, तथा ङकार जिसका इत्संज्ञक हो उस धातु से भी** [आत्मनेपदम्] **आत्मनेपद होता है ।।**

यहां से 'आत्मनेपदम्' का अधिकार १।३।७७ तक जाता है ।।

भावकर्मणोः ।।१।३।१३।। आत्मनेपद

भावकर्मणोः ७।२।। **स०**—भावश्च कर्म च भावकर्मणी, तयोः भावकर्मणोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। **अनु०**—आत्मनेपदम् ।। **अर्थः**—भावे कर्मणि चार्थे धातोरात्मनेपद

---

१ यह स्वरित का चिह्न पुराकाल में पाणिनि मुनि ने अधिकारसूत्रों पर लगाया था । इस समय वे विलुप्त हो गये हैं, सो अधिकारसूत्र कौन-कौनसे हैं, अब यह अध्यापक को ही बताना पड़ता है, क्योंकि स्वरित चिह्न का क्रम तो रहा नहीं ।

२ यहां 'धातु' शब्द सामर्थ्य से आ जाता है, क्योंकि आत्मनेपद और परस्मैपद धातु से ही होते हैं ।।

भवति ।। उदा०—भावे—आस्यते देवदत्तेन, ग्लायते भवता, सुप्यते भवता । कर्मणि—देवदत्तेन वेदः पठ्यते, देवदत्तेन फलं खाद्यते, क्रियते कटस्त्वया, ह्रियते भारो मया ।।

भाषार्थः—[भावकर्मणोः] भाववाच्य तथा कर्मवाच्य में (धातु से) आत्मनेपद होता है ।।

विशेष:—यहां यह समझ लेने का विषय है कि भाववाच्य कर्मवाच्य और कर्तृवाच्य क्या होता है, तथा किन-किन धातुओं से होता है । हम यहाँ संक्षेप से ही उसका निरूपण करते हैं—

अकर्मक धातुओं से भाव तथा कर्त्ता में लकार एवं प्रत्यय आते हैं, तथा सकर्मक धातुओं से लकार एवं प्रत्यय कर्म तथा कर्त्ता में होते हैं, देखो सूत्र (३।४।६९,६७, ७०) । जब क्रिया के साथ कर्म का सम्बन्ध नहीं होता या नहीं हो सकता, तब वह क्रिया अकर्मक होती है । जैसे—देवदत्त आस्ते, देवदत्तः स्वपिति, यहां 'आस' धातु के साथ न कर्म का सम्बन्ध है न हो सकता है, तथा स्वप के साथ भी कर्म का सम्बन्ध नहीं है, अतः आस्ते तथा स्वपिति में कर्तृवाच्य में लकार आये हैं । भाववाच्य में इन्हीं का आस्यते देवदत्तेन, सुप्यते देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा बैठा जाता है, सोया जाता है) बनेगा । अकर्मक होने से उपर्युक्त लिखे अनुसार इनका कर्म नहीं हो सकता ।

सामान्यतया वैयाकरणों ने भाव का लक्षण किया है—"अपरिस्पन्दनसाधनसाध्यो धात्वर्थो भावः" अर्थात् जिसमें हिलना-जुलना आदि न पाया जाये, ऐसे साधन से सिद्ध किया हुआ धातु का अर्थ भाव कहलाता है । उपर्युक्त उदाहरण में देवदत्त बैठा है, सो रहा है, उसमें हिलना-जुलना आदि नहीं हो रहा है । अतः ये धातु अकर्मक हैं । जब धातु के साथ कर्म का सम्बन्ध होता है या हो सकता है, तब वह धातु 'सकर्मक' होती है । ऊपर लिखे अनुसार सकर्मक धातुओं से लकार कर्म तथा कर्त्ता में आयेंगे, भाव में नहीं आयेंगे ।।

देवदत्तः वेदं पठति, देवदत्तः फलं खादति, यहां पठ तथा खाद धातु का कर्त्ता (देवदत्त) के साथ सम्बन्ध है, सो यहां पठति खादति में कर्त्ता में लकार आए हैं । कर्मवाच्य में इन्हीं का पठ्यते वेदः देवदत्तेन, खाद्यते फलं देवदत्तेन (देवदत्त के द्वारा वेद पढ़ा जाता है, फल खाया जाता है) बनता है ।।

जब क्रिया और कर्त्ता का अधिकरण=आश्रय परस्पर समान होता है, तब कर्तृवाच्य क्रिया बनती हैं । कर्तृवाच्य में क्रिया कर्त्ता को कहती है ।।

जब क्रिया और कर्म का अधिकरण एक होता है, तो कर्मवाच्य क्रिया बनती है। कर्मवाच्य में क्रिया कर्म को कहती है ॥

भाववाच्य क्रिया में भाव अर्थात् धात्वर्थमात्र कहा जाता है। सो आस्यते इस भाववाच्य क्रिया से 'बैठनामात्र' अभिप्रेत है ॥ कर्मवाच्य तथा भाववाच्य में कर्त्ता में तृतीया विभक्ति अनभिहिते (२।३।१) अधिकार में वर्त्तमान कर्त्तृकरणोस्तृतीया (२।३।१८) सूत्र से हुई है। विभक्ति-वचन की व्यवस्था वहीं अनभिहिते (२।३।१) सूत्र पर ही देखें ॥

भाव तथा कर्म में चार बातें कर्त्तृवाच्य से विशेष होती हैं—

(१) आत्मनेपद—जो इसी (१।३।१३) सूत्र से होता है। (२) यक्—सार्वधातुके यक् (३।१।६७) से होता है। (३) चिण्—चिण् भावकर्मणोः (३।१।६६) से होता है। (४) चिण्वद्भाव—स्यसिच्... चिण्वदिट् च (६।४।६२) से होता है। इस सम्बन्ध में तत्तत्सूत्र देख लेना चाहिये ॥

कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे॥ १।३।१४॥ आत्मनेपद

कर्त्तरि ७।१॥ कर्मव्यतिहारे ७।१॥ स०—कर्मणः व्यतिहारः कर्मव्यतिहारः, तस्मिन्...... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ कर्मशब्दः क्रियावाची, न तु कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म (१।४।४९) इति। व्यतिहारः=विनिमयः परस्परक्रियाकरणम् ॥ अर्थः—क्रियायाः व्यतिहारे=विनिमये कर्त्तृवाच्ये धातोरात्मनेपदं भवति॥ उदा०—व्यतिलुनते क्षेत्रम्ः, व्यतिपुनते वस्त्रम् ॥

भाषार्थः—[कर्मव्यतिहारे] क्रिया के व्यतिहार अर्थात् अदल-बदल करने अर्थ में [कर्त्तरि] कर्त्तृवाच्य में धातु से आत्मनेपद होता है ॥

यहां से 'कर्मव्यतिहारे' की अनुवृत्ति १।३।१६ तक जाती है ॥

न गतिहिंसार्थेभ्यः ॥१।३।१५॥ आत्मनेपद निषेध

न अ० ॥ गतिहिंसार्थेभ्यः ५।३॥ स०—गतिश्च हिंसा च गतिहिंसे, गतिहिंसे अर्थौ येषां ते गतिहिंसार्थाः, तेभ्यः... द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—कर्मव्यतिहारे, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—गत्यर्थेभ्यो धातुभ्यः हिंसार्थेभ्यश्च कर्मव्यतिहारे आत्मनेपदं न भवति ॥ पूर्वेण प्रप्तिः प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—गत्यर्थेभ्यः—व्यतिगच्छन्ति, व्यतिसर्पन्ति। हिंसार्थेभ्यः—व्यतिहिंसन्ति, व्यतिघ्नन्ति ॥

भाषार्थः—[गतिहिंसार्थेभ्यः] गत्यर्थक तथा हिंसार्थक धातुओं से कर्मव्यतिहार

अर्थ में आत्मनेपद [न] नहीं होता है ।। पूर्वसूत्र से कर्मव्यतिहार में आत्मनेपद प्राप्त था, प्रतिषेध कर दिया है ।।

यहां से 'न' की अनुवृत्ति १।३।१६ तक जाती है ।।

आत्मनेपद निषेध इतरेतरान्योन्योपपदाच्च ।।१।३।१६।।

इतरेतरान्योन्योपपदात् ५।१।। च अ० ।। स०—इतरेतरश्च अन्योन्यश्च इतरेतरान्योन्यौ, तावुपपदे यस्य स इतरेतरान्योन्योपपदः, तस्मात्, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ।। अनु०—न, कर्मव्यतिहारे, आत्मनेपदम् ।। अर्थः—इतरेतरान्योन्योपपदात् धातो आत्मनेपदं न भवति कर्मव्यतिहारेऽर्थे ।। उदा०—इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति, अन्योन्यस्य व्यतिलुनन्ति ।।

भाषार्थः—[इतरे . दात्] इतरेतर तथा अन्योन्य शब्द यदि उपपद (समीप में श्रूयमाण) हों, तो [च] भी धातु से कर्मव्यतिहार अर्थ में आत्मनेपद नहीं होता है ।। यह सूत्र भी (१।३।१४) का अपवाद है ।।

उदा०—इतरेतरस्य व्यतिलुनन्ति (एक-दूसरे का काटते हैं), अन्योन्यस्य व्यतिलुनन्ति (एक-दूसरे का काटते हैं) ।। सिद्धि परि० १।३।१४ के समान है ।।

आत्मनेपद नेर्विशः ।।१।३।१७।।

नेः ५।१।। विशः ५।१।। अनु०—आत्मनेपदम् ।। अर्थः—निपूर्वात् विश (तुदा० पर०) धातोः आत्मनेपदं भवति ।। उदा०—निविशते, निविशेते, निविशन्ते ।।

भाषार्थः—[नेः] नि उपसर्गपूर्वक [विशः] विश धातु से आत्मनेपद होता है।। विश धातु धातुपाठ में परस्मैपदी पढ़ी है । सो इसे आत्मनेपद नहीं प्राप्त था, अतः कह दिया ।।

उदा०—निविशते (प्रवेश करता है), निविशेते, निविशन्ते ।। सिद्धियां पूर्ववत् ही हैं । निविशेते की सिद्धि परि० १।१।११ के पचेते के समान जानें ।।

विशेषः—धातुपाठ में धातुएँ आत्मनेपदी परस्मैपदी पृथक्-पृथक् पढ़ी ही हैं, सो उन्हीं से कौन आत्मनेपदी हैं कौन परस्मैपदी हैं, इसका परिज्ञान हो ही जायगा, पुनः इस प्रकरण का विधान इसलिये किया है कि जो परस्मैपदी धातु थीं, उनसे आत्मनेपद कब हो जाता है, और जो आत्मनेपदी धातु थीं उनसे परस्मैपद कब हो जाता है, यह बात दर्शा दी जाय । धातुपाठ की सूची, तथा इस प्रकरण से आत्मनेपद और परस्मैपद का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है । सो पाद के अन्त तक यही विधान समझना चाहिये ।।

आत्मनेपद

परिव्यवेभ्यः क्रियः ॥१।३।१८॥

परिव्यवेभ्यः ५।३॥ क्रियः ५।१॥ स०—परिश्च विश्च अवश्च परिव्यवाः, तेभ्यः…… इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—परि वि अव इत्येवं पूर्वात् डुक्रीञ् धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—परिक्रीणीते, विक्रीणीते, अवक्रीणीते ॥

भाषार्थः—[परिव्यवेभ्यः] परि वि तथा अव उपसर्ग पूर्वक [क्रियः] डुक्रीञ् धातु से आत्मनेपद होता है ॥ ञित् होने से स्वरितञितः० (१।३।७२) से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद प्राप्त था। अकर्त्रभिप्राय क्रियाफल (जब क्रिया का फल कर्त्ता के अभिप्राय को सिद्ध न कर रहा हो) में भी आत्मनेपद हो जाये, इसलिये यह वचन है ॥

आत्मनेपद

विपराभ्यां जेः ॥१।३।१९॥

विपराभ्याम् ५।२॥ जेः ५।१॥ स०—विश्च पराश्च विपरौ, ताभ्याम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—वि, परा इत्येवं पूर्वाद् जिधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—विजयते, पराजयते ॥

भाषार्थः—[विपराभ्याम्] वि, परा पूर्वक [जेः] 'जि' धातु से आत्मनेपद होता है ॥ 'वि जि शप् त' इस स्थिति में 'जि' अङ्ग को गुण, तथा ६।१।७५ से अयादेश होकर विजयते (विजय को प्राप्त होता है), पराजयते (हराता है, अथवा हारता है) बना है ॥

आत्मनेपद

आङो दोऽनास्यविहरणे ॥१।३।२०॥

आङः ५।१॥ दः ५।१॥ अनास्यविहरणे ७।१॥ स०—आस्यस्य विहरणम्, आस्यविहरणम्, षष्ठीतत्पुरुषः। न आस्यविहरणमनास्यविहरणं, तस्मिन्… नञ्-तत्पुरुषः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अनास्यविहरणेऽर्थे वर्त्तमानाद् आङ् पूर्वात् डुदाञ् धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—विद्याम् आदत्ते ॥

भाषार्थः—[आङः] आङ् पूर्वक [दः] डुदाञ् धातु से आत्मनेपद होता है, यदि वह [अनास्यविहरणे] मुख को खोलने अर्थ में वर्त्तमान न हो तो ॥

यहां से 'आङः' की अनुवृत्ति १।३।२१ तक जाती है ॥

आत्मनेपद

क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्च ॥१।३।२१॥

क्रीडः ५।१॥ अनुसंपरिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ स०—अनुश्च सम् च परिश्च अनुसंपरयः, तेभ्यः…… इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आङः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—

अनु, सम्, परि, इत्येवंपूर्वाद् आङ्पूर्वाच्च क्रीडधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०— अनुक्रीडते, संक्रीडते, परिक्रीडते, आक्रीडते ॥

भाषार्थः—[अनुसंपरिभ्यः] अनु, सम्, परि [च] और आङ्पूर्वक [क्रीडः] क्रीड धातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—अनुक्रीडते (साथ में खेलता है)। संक्रीडते (मस्त होकर खेलता है) परिक्रीडते (खूब खेलता है)। आक्रीडते (खेलता है) ॥

आत्मनेपद

समवप्रविभ्यः स्थः ॥१।३।२२॥

समवप्रविभ्यः ५।३॥ स्थः ५।१॥ स०—सम् च अवश्च प्रश्च विश्च समवप्रवयः, तेभ्यः······इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम्, अव, प्र, वि इत्येवं पूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—सन्तिष्ठते, अवतिष्ठते, प्रतिष्ठते, वितिष्ठते ॥

भाषार्थः—[समवप्रविभ्यः] सम्, अव्, प्र तथा वि पूर्वक [स्थः] स्था धातु से आत्मनेपद होता है ॥

शप् परे रहते स्था को 'तिष्ठ' आदेश पाघ्राध्मास्थाम्ना० (७।३।७८) से हो गया है। शेष सिद्धि पूर्ववत ही है ॥

उदा०—सन्तिष्ठते (सम्यक् स्थित होता है)। अवतिष्ठते (अवस्थित होता है)। प्रतिष्ठते (प्रस्थान करता है)। वितिष्ठते (विशेष रूप से स्थित होता है) ॥

यहां से 'स्थः' की अनुवृत्ति १।३।२६ तक जाती है ॥

आत्मनेपद

प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च ॥१।३।२३॥

प्रकाशनस्थेयाख्ययोः ७।२॥ च अ० ॥ तिष्ठन्ति अस्मिन्निति स्थेयः । स०— स्थेयस्याख्या स्थेयाख्या, षष्ठीतत्पुरुषः । प्रकाशनञ्च स्थेयाख्या च प्रकाशनस्थेयाख्ये, तयोः ·········इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्थः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः— स्वाभिप्रायस्य प्रकाशने, स्थेयाख्ये=विवादपदनिर्णेतुराख्यायां च वर्त्तमानात् स्थाधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०— विद्या तिष्ठते छात्राय। भार्या तिष्ठते पत्ये। स्थेयाख्यायाम्—त्वयि तिष्ठते, मयि तिष्ठते ॥

भाषार्थः—[प्रका·····योः] प्रकाशन=अपने भाव के प्रकाशन में, तथा स्थेयाख्या=विवाद के निर्णय करनेवाले को कहने अर्थ में [च] भी स्था धातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—विद्या तिष्ठते छात्राय (विद्या छात्र को अपना स्वरूप प्रकाशित करती

है)। भार्या तिष्ठते पत्ये (पतिव्रता स्त्री अपने पति को अपना स्वरूप दर्शाती है)। त्वयि तिष्ठते (निर्णायक के रूप में तुम्हारे ऊपर आश्रित है), मयि तिष्ठते ॥

उदोऽनूर्ध्वकर्मणि ॥१।३।२४॥

उदः ५।१॥ अनूर्ध्वकमणि ७।१॥ स०—ऊर्ध्वं चादः कर्म च ऊर्ध्वकर्म, कर्मधारयः। न ऊर्ध्वकर्म अनूर्ध्वकर्म, तस्मिन् ''नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—स्थः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अनूर्ध्वकर्मण्यर्थे वर्त्तमानाद् उत्पूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—गेहे उत्तिष्ठते, कुटुम्बे उत्तिष्ठते ॥

भाषार्थः—[अनूर्ध्वकर्मणि] अनूर्ध्वकर्म अर्थात् ऊपर उठने अर्थ में वर्त्तमान न हो, तो [उदः] उत् पूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उत् उपसर्ग ऊपर उठने अर्थ में ही प्रायः आता है ॥ गेहे उत्तिष्ठते में ऊपर उठना अर्थ नहीं है, प्रत्युत "घर में उन्नति करता है" यह अर्थ है, सो आत्मनेपद हो गया ॥

उपान्मन्त्रकरणे ॥१।३।२५॥

उपात् ५।१॥ मन्त्रकरणे ७।१॥ स०—मन्त्रः करणं यस्य (धात्वर्थस्य) स मन्त्रकरणः, तस्मिन्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—स्थः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—मन्त्रकरणेऽर्थे वर्त्तमानाद् उपपूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते। आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते ॥

भाषार्थः—[मन्त्रकरणे] मन्त्र करण (=साधकतम) है जिसका, उस अर्थ में वर्त्तमान [उपात्] उपपूर्वक स्था धातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते (इन्द्रदेवतावाली ऋचा को बोलकर गार्हपत्य अग्नि के समीप जाता है)। आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते (अग्निदेवतावाली ऋचा को बोलकर आग्नीध्र के पास जाता है) ॥

यहां से 'उपात्' की अनुवृत्ति १।३।२६ तक जाती हैं ॥

अकर्मकाच्च ॥ १।३।२६॥

अकर्मकात् ५।१॥ च अ० ॥ स०—न विद्यते कर्म यस्य सोऽकर्मकः, तस्मात्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—उपात्, स्थः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अकर्मकाद् उपपूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—यावद्भुक्तमुपतिष्ठते (भोजने भोजने सन्निधीयते इत्यर्थः) ॥

भाषार्थः—उपपूर्वक [अकर्मकात्] अकर्मक स्था धातु से [च] भी आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—यावद्भुक्तमुपतिष्ठते (भोजन के समय आ खड़ा होता है) ॥ उदाहरण में स्था धातु अकर्मक है, सो आत्मनेपद हुआ ॥

यहां से 'अकर्मकात्' की अनुवृत्ति १।३।२६ तक जाती है ॥

आत्मनेपद

उद्विभ्यां तपः ॥१।३।२७॥

उद्विभ्याम् ५।२॥ तपः ५।१॥ स०—उत् च विश्च उद्वी, ताभ्याम्···इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अकर्मकात्, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—उद् वि इत्येवंपूर्वादकर्मकात् तपधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—उत्तपते। वितपते ॥

भाषार्थः—[उद्विभ्याम्] उत् वि पूर्वक अकर्मक [तपः] तप धातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—उत्तपते (खूब गरम होता है)। वितपते (विशेष रूप से गरम होता है)॥

आत्मनेपद

आङो यमहनः ॥१।३।२८॥

आङः ५।१॥ यमहनः ५।१॥ स०—यमश्च हन् च यमहन्, तस्मात्······समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—अकर्मकात्, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—आङ् पूर्वाभ्यामकर्मकाभ्यां यम हन इत्येताभ्यां धातुभ्यामात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—आयच्छते, आयच्छेते। आहते, आघ्नाते ॥

भाषार्थः—[आङः] आङ् पूर्वक अकर्मक [यमहनः] यम् और हन् धातुओं से आत्मनेपद होता है ॥

आत्मनेपद

समो गम्यृच्छिभ्याम् ॥१।३।२९॥

समः ५।१॥ गम्यृच्छिभ्याम् ५।२॥ स०—गमिश्च ऋच्छिश्च गम्यृच्छी, ताभ्याम्······इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—अकर्मकात्, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम्पूर्वाभ्यामकर्मकाभ्यां गम ऋच्छ इत्येताभ्यां धातुभ्यामात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—सङ्गच्छते। समृच्छते ॥

भाषार्थः—[समः] सम्पूर्वक अकर्मक [गम्यृच्छिभ्याम्] गम् तथा ऋच्छ धातुओं से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—सङ्गच्छते (साथ-साथ चलता है)। समृच्छते (प्राप्त होता है) ॥ सङ्गच्छते की सिद्धि परि० १।३।२८ के आयच्छते के समान जानें। केवल यहां सम्

के मकार को मोऽनुस्वारः (८।३।२३) से अनुस्वार, तथा वा पदान्तस्य (८।४।५८) से अनुस्वार को परसवर्ण 'ङ्' हो गया है, यही विशेष है ।।

निसमुपविभ्यो ह्वः ।।१।३।३०।। आत्मनेपद

निसमुपविभ्यः ५।३।। ह्वः ५।१।। स०—निश्च सम् च उपश्च विश्च निसमुपवयः, तेभ्यः ... इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—आत्मनेपदम् ।। अर्थः—नि सम् उप वि इत्येवंपूर्वाद् ह्वेञ्धातोरात्मनेपदं भवति ।। उदा०—निह्वयते । संह्वयते । उपह्वयते । विह्वयते ।।

भाषार्थः—[निसमुपविभ्यः] नि, सम्, उप तथा विपूर्वक [ह्वः] ह्वेञ् धातु से आत्मनेपद होता है ।।

ह्वेञ् के ञित होने से कर्त्रभिप्राय विषय में आत्मनेपद प्राप्त था, यहां अकर्त्रभिप्रायविषय में भी आत्मनेपद हो जाये, इसलिये यह सूत्र है । ञित् धातुओं में आगे भी यही प्रयोजन समझते जाना चाहिये ।।

उदा०—निह्वयते (निश्चयरूप से बुलाता है) । संह्वयते (अच्छी प्रकार बुलाता है) । उपह्वयते (समीप बुलाता है) । विह्वयते (विशेषरूप से बुलाता है) ।।

'निह्वे अ ते' इस अवस्था में एचोऽयवायावः (६।१।७५) से अयादेश होकर निह्वयते आदि बन गये हैं । कुछ भी विशेष नहीं है ।।

यहाँ से 'ह्वः' की अनुवृत्ति १।३।३१ तक जाती है ।।

स्पर्धायामाङः ।।१।३।३१।। आत्मनेपद

स्पर्धायाम् ७।१।। आङः ५।१।। अनु०—ह्वः, आत्मनेपदम् ।। अर्थः—स्पर्धायां विषये आङ्पूर्वाद् ह्वेञ्धातोरात्मनेपदं भवति ।। उदा०—मल्लो मल्लमाह्वयते । छात्रश्छात्रमाह्वयते ।।

भाषार्थः—[स्पर्धायाम्] स्पर्धा-विषय में [आङः] आङ्पूर्वक ह्वेञ् धातु से आत्मनेपद होता है ।।

उदा०—मल्लो मल्लमाह्वयते (एक मल्ल=पहलवान दूसरे मल्ल को कुश्ती के लिये ललकारता है, अर्थात् स्पर्धा करता है) । छात्रश्छात्रमाह्वयते (एक छात्र दूसरे को स्पर्धा से ललकारता है) ।।

आत्मनेपद

गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु कृञः ।।१।३।३२।।

गन्धना···योगेषु ७।३।। कृञः ५।१।। स०—गन्धनञ्च अवक्षेपणञ्च सेवनञ्च

साहसिक्यञ्च प्रतियत्नश्च प्रकथनञ्च उपयोगश्च गन्धना···योगाः, तेषु···इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—गन्धनम्=सूचनम्, अवक्षेपणं=भर्त्सनम्, सेवनं=सेवा, साहसिक्यं=साहसिकं कर्म, प्रतियत्नः=गुणान्तराधानम्, प्रकथनं=प्रकर्षेण कथनम्, उपयोगः=धर्मार्थो विनियोगः, इत्येतेष्वर्थेषु वर्त्तमानात् कृञ्धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०——गन्धने—उत्कुरुते, उदाकुरुते । अवक्षेपणे—श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते । सेवने——आचार्यमुपकुरुते शिष्यः । साहसिक्ये——परदारान् प्रकुरुते । प्रतियत्ने—एधोदकस्योपस्कुरुते, काण्डं गुडस्योपस्कुरुते । प्रकथने——जनापवादान् प्रकुरुते, गाथाः प्रकुरुते । उपयोगे—शतं प्रकुरुते, सहस्रं प्रकुरुते ॥

भाषार्थः—[गन्धना...योगेषु] गन्धन=चुगली करना, अवक्षेपण=धमकाना, सेवन=सेवा करना, साहसिक्य=जबरदस्ती करना, प्रतियत्न=किसी गुण को भिन्न गुण में बदलना, प्रकथन=बढ़ा-चढ़ाकर कहना,तथा उपयोग=धर्मादिकार्य में लगाना, इन अर्थों में वर्त्तमान [कृञः] कृञ् धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—उत्कुरुते, उदाकुरुते (चुगली करता है) । श्येनो वर्त्तिकामुदाकुरुते (श्येन=बाज पक्षी बत्तख को भर्त्सना करता है, अर्थात् उठाकर ले जाना चाहता है) । आचार्यमुपकुरुते शिष्यः (शिष्य आचार्य की सेवा करता है) । परदारान् प्रकुरुते (पराई स्त्री पर दुस्साहस करता है)। एधोदकस्योपस्कुरुते (ईंधन जल के गुण को बदलता है)। काण्डं गुडस्योपस्कुरुते (सुकलाई[1]=भिण्डी का पौधा गुड़ के गुण को बदलता है) । जनापवादान् प्रकुरुते (लोगों की बुराई को अच्छी तरह बढ़ाचढाकर कहता है), गाथाः प्रकुरुते (कथायें अच्छी प्रकार करता है) । शतं प्रकुरुते (सौ रुपये धर्मकार्य में लगाता है), सहस्रं प्रकुरुते ॥

यहां से 'कृञः' की अनुवृत्ति १।३।३५ तक जाती है ॥

आत्मनेपद

अधेः प्रसहने ॥१।३।३३॥

अधेः ५।१॥ प्रसहने ७।१॥ अनु०—कृञः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—प्रसहनेऽर्थे वर्त्तमानादधिपूर्वात् कृञ्धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—शत्रुमधिकुरुते ॥

भाषार्थः—[प्रसहने] प्रसहन अर्थ में वर्त्तमान [अधेः] अधिपूर्वक कृञ् धातु से आत्मनेपद होता है ॥ प्रसहन किसी को दबा लेने वा हरा देने को कहते हैं ॥

उदा०—शत्रुमधिकुरुते (शत्रु को वश में करता है) ॥

१. भिण्डी के पौधे को गुड़ बनाते समय रस में डालकर गुड़ साफ किया जाता है ।

वेः शब्दकर्मणः ॥१।३।३४॥

वेः ५।१॥ शब्दकर्मणः ५।१॥ स०—शब्दः कर्म यस्य स शब्दकर्मा, तस्मात् शब्दकर्मणः, बहुव्रीहिः ॥ **अनु०**—कृञः, आत्मनेपदम् ॥ **अर्थः**—विपूर्वात् शब्दकर्मणः कृञ्धातोरात्मनेपदं भवति ॥ **उदा०**—क्रोष्टा विकुरुते स्वरान् । ध्वाङ्क्षो विकुरुते स्वरान् ॥

भाषार्थः—[शब्दकर्मणः] **शब्दकर्मवाले** [वेः] **विपूर्वक कृञ् धातु से आत्मनेपद होता है** ॥

उदा० – **क्रोष्टा विकुरुते स्वरान् (गीदड़ स्वरों को बिगाड़-बिगाड कर बोलता है) । ध्वाङ्क्षो विकुरुते स्वरान् (कौवा स्वरों को बिगाड़-बिगाड़ कर बोलता है)॥ उदाहरणों में 'विकुरुते' का 'स्वर' शब्दकर्म है, सो आत्मनेपद हो गया है ॥**

यहां से 'वेः' की अनुवृत्ति १।३।३५ तक जाती है ॥

अकर्मकाच्च ॥१।३।३५॥

अकर्मकात् ५।१॥ च अ० ॥ **अनु०**—वेः, कृञः, आत्मनेपदम् ॥ **अर्थः**—विपूर्वाद् अकर्मकात् कृञधातोरप्यात्मनेपदं भवति ॥ **उदा०**—विकुर्वते सैन्धवाः। ओदनस्य पूर्णाश्छात्रा विकुर्वते ॥

भाषार्थः—**विपूर्वक** [अकर्मकात्] **अकर्मक कृञ् धातु से** [च] **भी आत्मनेपद होता है ॥ वि+कुरु+झ, पूर्ववत् होकर झ को** आत्मनेपदेष्वनतः **(७।१।५) से अत् आदेश होकर, तथा** इको यणचि **(६।१।७४) से यणादेश होकर 'विकुर्वते' बना ॥**

उदा०—**विकुर्वते सैन्धवाः (अच्छी प्रकार सिखाये हुए घोड़े चौकड़ी मारते हैं)। ओदनस्य पूर्णाश्छात्राः विकुर्वते (भरपेट चावल खाकर छात्र व्यर्थ कूद-फांद करते हैं)॥**

सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः ॥१।३।३६॥

सम्माननोत्स······व्ययेषु ७।३।। नियः ५।१॥ **स०**—सम्माननञ्च उत्सञ्जनं च आचार्यकरणं च ज्ञानं च भृतिश्च विगणनं च व्ययश्च सम्माननोत्··· व्ययाः, तेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—आत्मनेपदम् ॥ **अर्थः**—सम्माननं=पूजनम्, उत्सञ्जनम्=उत्क्षेपणम्, आचार्यकरणम्=आचार्यक्रिया, ज्ञानं=तत्त्वनिश्चयः, भृतिः =वेतनम्, विगणनं=ऋणादेर्निर्यातनम्, व्ययः=धर्मादिषु विनियोगः, इत्येतेष्वर्थेषु वर्तमानाद् णीञ् प्रापणे धातोरात्मनेपदं भवति ॥ **उदा०**–सम्माननम्– मातरं सन्नयते, नयते आचार्यो वेदेषु । उत्सञ्जनम्—दण्डमुन्नयते, माणवकमुदानयते । आचार्यकरणम् —माणवकमुपनयते । ज्ञानम्—नयते बुद्धिः वेदेषु । भृतिः—कर्मकरान् उपनयते । विगणनम्—मद्राः करं विनयन्ते । व्ययः—शतं विनयते, सहस्रं विनयते ॥

भाषार्थः—[सम्मानन···व्ययेषु] सम्मानन=पूजा, उत्सञ्जन=उछालना, आचार्यकरण=आचार्यक्रिया, ज्ञान=तत्त्वनिश्चय, विगणन=ऋणादि का चुकाना, व्यय=धर्मादि-कार्यों में व्यय करना, इन अर्थों में वर्तमान [नियः] णीञ् धातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—सम्मानन–मातरं सन्नयते (माता की पूजा करता है), नयते आचार्यो वेदेषु (आचार्य शिष्य की बुद्धि को वेदों में प्रवृत्त कराता है, वह उसमें प्रवृत्त होकर सम्मान को प्राप्त होता है)। उत्सञ्जन—दण्डमुन्नयते (दण्ड को उछालता है), माणवकमुदानयते (बच्चे को उछालता है)। आचार्यकरण—माणवकमुपनयते (बच्चे का उपनयन करता है)। ज्ञान—नयते बुद्धिः वेदेषु (वेदविषय में बुद्धि चलती है)। भृति—कर्मकरानुपनयते (नौकरों को वेतन देकर अपने अनुकूल करता है)। विगणन—मद्राः करं विनयन्ते (मद्र देशवासी कर देते हैं)। व्यय—शतं विनयते, सहस्रं विनयते (धर्मकार्य में सौ रुपये देता, वा सहस्र रुपये देता है)।

यहां से 'नियः' की अनुवृत्ति १।३।३७ तक जायेगी ॥

आत्मनेपद

कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि ॥१।३।३७॥

कर्तृस्थे ७।१॥ च अ०॥ अशरीरे ७।१॥ कर्मणि ७।१॥ स०—कर्तरि तिष्ठतीति कर्तृस्थः, तत्पुरुषः। न शरीरम् इति अशरीरम्, तस्मिन्नशरीरे, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—नियः, आत्मनेपदम्॥ अर्थः—कर्तृस्थेऽशरीरे कर्मणि च सति णीञ्धातोरात्मनेपदं भवति॥ उदा०—क्रोधं विनयते, मन्युं विनयते॥

भाषार्थः—[कर्तृस्थे] कर्ता में स्थित [अशरीरे] शरीर-भिन्न [कर्मणि] कर्म होने पर [च] भी णीञ् धातु से आत्मनेपद होता है॥ उदा०—क्रोधं विनयते, मन्युं विनयते (क्रोध को दूर करता है, मन्यु को दूर करता है)॥ यहां पर क्रोध और मन्यु णीञ् धातु के शरीर-भिन्न कर्म हैं, तथा कर्त्ता में स्थित भी हैं। अतः णीञ् धातु से आत्मनेपद हो गया॥

आत्मनेपद

वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः ॥१।३।३८॥

वृत्तिसर्गतायनेषु ७।३॥ क्रमः ५।१॥ स०—वृत्तिश्च सर्गश्च तायनञ्च वृत्तिसर्गतायनानि, तेषु वृत्तिसर्गतायनेषु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—आत्मनेपदम्॥ अर्थः—वृत्तिः=अप्रतिबन्धः, सर्गः=उत्साहः, तायनं=विस्तारः, इत्येतेष्वर्थेषु वर्त्तमानात् क्रमधातोरात्मनेपदं भवति॥ उदा०—वृत्तिः—मन्त्रेषु अस्य क्रमते बुद्धिः। सर्गः—व्याकरणाध्ययनाय क्रमते। तायनम्—अस्मिन् शास्त्राणि क्रमन्ते॥

भाषार्थः—[वृत्तिसर्गतायनेषु] वृत्ति=अनिरोध (बिना रुकावट के चलना),

सर्ग=उत्साह, तायन=विस्तार, इन अर्थों में वर्त्तमान [क्रमः] क्रम धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—वृत्ति—मन्त्रेषु अस्य क्रमते बुद्धिः (मन्त्रों में इसकी बुद्धि खूब चलती है, रुकती नहीं है) । सर्ग—व्याकरणाध्ययनाय क्रमते (व्याकरण पढ़ने में उत्साहित होता है) । तायन—अस्मिन् शास्त्राणि क्रमन्ते (इसमें शास्त्र समृद्ध होते हैं) ॥ सिद्धि पूर्ववत् ही है ॥

यहाँ से 'क्रमः' की अनुवृत्ति १।३।४३ तक जायेगी, तथा 'वृत्तिसर्गतायनेषु' की अनुवृत्ति १।३।३९ तक जायेगी ॥

उपपराभ्याम् ॥१।३।३९॥

उपपराभ्याम् ५।२॥ स०—उपश्च पराश्च उपपरौ, ताभ्यामुपपराभ्याम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—उपपरापूर्वाद् वृत्तिसर्गतायनेष्वर्थेषु वर्त्तमानात् क्रमधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—उपक्रमते । पराक्रमते ॥

भाषार्थः—[उपपराभ्याम्] उप परा पूर्वक क्रम धातु से वृत्ति सर्ग तथा तायन अर्थों में आत्मनेपद होता है (अन्य कोई उपसर्ग पूर्व में हो तो नहीं होता है) ॥

उदा०—उपक्रमते (उपक्रम अर्थात् प्रारम्भ करता है) । पराक्रमते (पराक्रम अर्थात् पुरुषार्थ करता है) ॥

आङ उद्गमने ॥१।३।४०॥

आङः ५।१॥ उद्गमने ७।१॥ अनु०—क्रमः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—आङ्पूर्वात् क्रमधातोरुद्गमनेऽर्थे वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—आदित्य आक्रमते। आक्रमते चन्द्रमाः । आक्रमन्ते ज्योतींषि ॥

भाषार्थः—[आङः] आङ् पूर्वक [उद्गमने] उद्गमन=उदय होने अर्थ में क्रम धातु से आत्मनेपद होता है ॥

उदा०—आदित्य आक्रमते (सूर्य उदय होता है) । आक्रमते चन्द्रमाः (चन्द्रमा उदय होता है) । आक्रमन्ते ज्योतींषि (तारागण उदय होते हैं) ॥

वेः पादविहरणे ॥१।३।४१॥

वेः ५।१॥ पादविहरणे ७।१॥ स०—पादयोः विहरणं पादविहरणम्, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—क्रमः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—विपूर्वात् क्रमधातोः पादविहरणेऽर्थे वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—सुष्ठु विक्रमते वाजी, साधु विक्रमते वाजी ॥

भाषार्थः—[वेः] विपूर्वक [पादविहरणे] पादविहरण=पैर उठाने अर्थ में वर्त्तमान क्रम धातु से आत्मनेपद होता है ।। उदा०—सुष्ठु विक्रमते वाजी, साधु विक्रमते वाजी (घोड़ा सुन्दर कदम उठाता है) ।।

आत्मनेपद **प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम् ।।१।३।४२।।**

प्रोपाभ्याम् ५।२।। समर्थाभ्याम् ५।२।। स०—समः (समानः) अर्थो ययोः तौ समर्थौ, ताभ्याम्, बहुव्रीहिः । प्रोपाभ्यामित्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—क्रमः, आत्मनेपदम् ।। अर्थः—प्र उप इत्येवंपूर्वात् क्रमधातोरात्मनेपदं भवति, यदि तौ 'प्र उप' उपसर्गौ समर्थौ=समानार्थौ=तुल्यार्थौ भवतः ।। आदिकर्मण्यर्थेऽनयोस्तुल्यार्थता भवति ।। उदा०—प्रक्रमते भोक्तुम् । उपक्रमते भोक्तुम् ।।

भाषार्थ—[प्रोपाभ्याम्] प्र उप पूर्वक क्रम धातु से आत्मनेपद होता है, यदि वे प्र उप उपसर्ग [समर्थाभ्याम्] समानार्थक=तुल्य अर्थवाले हों, अर्थात दोनों का एक अर्थ हो तो ।। आदिकर्म अर्थात् कार्य की प्रारम्भिक अवस्था को कहने में दोनों तुल्यार्थक होते हैं ।। उदा०—प्रक्रमते भोक्तुम् (भोजन करना प्रारम्भ करता है) । उपक्रमते भोक्तुम् (भोजन करना आरम्भ करता है) ।।

आत्मनेपद विकल्प **अनुपसर्गाद्वा ।।१।३।४३।।**

अनुपसर्गात् ५।१।। वा अ० ।। स०—न उपसर्गो यस्य सोऽनुपसर्गः, तस्मात्, बहुव्रीहिः ।। अनु०—क्रमः, आत्मनेपदम् ।। अर्थः—अनुपसर्गात्=उपसर्गरहितात् क्रमधातोर्वाऽत्मनेपदं भवति ।। उदा०—क्रमते, क्रामति ।।

भाषार्थः—[अनुपसर्गात्] उपसर्गरहित क्रम धातु से आत्मनेपद [वा] विकल्प करके होता है ।। सिद्धि पूर्ववत् हैं, केवल परस्मैपद पक्ष में क्रमः परस्मैपदेषु (७।३।७६) से दीर्घ होकर 'क्रामति' बनता है ।। उदा०—क्रमते, क्रामति (चलता है) ।।

आत्मनेपद **अपह्नवे ज्ञः ।।१।३।४४।।**

अपह्नवे ७।१।। ज्ञः ५।१।। अनु०—आत्मनेपदम् ।। अर्थः—अपह्नवोऽपलापः, तस्मिन् वर्त्तमानात् ज्ञाधातोरात्मनेपदं भवति ।। उदा०—शतम् अपजानीते । सहस्रम् अपजानीते ।।

भाषार्थः—[अपह्नवे] अपह्नव अर्थात् मिथ्याभाषण अर्थ में वर्त्तमान [ज्ञः] ज्ञा धातु से आत्मनेपद होता है ।। उदा०—शतम् अपजानीते (सौ रुपये के लिये झूठ बोलता है) । सहस्रम् अपजानीते (हजार रुपये के लिए झूठ बोलता है) ।।

यहां से "ज्ञः" की अनुवृत्ति १।३।४६ तक जायेगी ।।

अकर्मकाच्च ॥१।३।४५॥ आत्मनेपद

अकर्मकात् ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—ज्ञः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः – अकर्मकात् ज्ञा-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—सर्पिषो जानीते, मधुनो जानीते ॥

भाषार्थः—[अकर्मकात्] अकर्मक ज्ञा धातु से [च] भी आत्मनेपद होता है ॥ सिद्धि पूर्ववत् है। सर्पिषः, मधुनः में करण में षष्ठी ज्ञोऽविदर्थस्य करणे (२।३।५१) से हुई है॥ उदा०—सर्पिषो जानीते (घी समझकर प्रवृत्त होता है)। मधुनो जानीते (शहद समझकर प्रवृत्त होता है)॥

संप्रतिभ्यामनाध्याने ॥१।३।४६॥ आत्मनेपद

संप्रतिभ्याम् ५।२॥ अनाध्याने ७।१॥ स०—सम् च प्रतिश्च सम्प्रती, ताभ्याम् सम्प्रतिभ्याम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। न आध्यानम् अनाध्यानम्, तस्मिन् अनाध्याने, नञ्-तत्पुरुषः॥ अनु०—ज्ञः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम् प्रति इत्येवं पूर्वाद् अनाध्यानेऽर्थे वर्त्तमानाद् ज्ञा-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—शतं संजानीते, सहस्रं संजानीते। शतं प्रतिजानीते, सहस्रं प्रतिजानीते ॥

भाषार्थः—[सम्प्रतिभ्याम्] सम् प्रति पूर्वक ज्ञा धातु से [अनाध्याने] अनाध्यान अर्थात् उत्कण्ठापूर्वक स्मरण अर्थ में वर्तमान न हो, तो आत्मनेपद होता है ॥ पूर्वसूत्र में अकर्मक से आत्मनेपद का विधान किया था। यहाँ पर सम् प्रति पूर्वक सकर्मक से भी हो जाये, इसलिये यह सूत्र है ॥ उदा०—शतं संजानीते, सहस्रं संजानीते (सौ वा हजार की प्रतिज्ञा करता है)। शतं प्रतिजानीते, सहस्रं प्रतिजानीते (सौ वा हजार की प्रतिज्ञा करता है)॥

आत्मनेपद

भासनोपसम्भाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः ॥१।३।४७॥

भासनोप··· मन्त्रणेषु ७।३॥ वदः ५।१॥ स०—भासनञ्च उपसंभाषा च ज्ञानञ्च यत्नश्च विमतिश्च उपमन्त्रणञ्च भासनोप······मन्त्रणानि, तेषु, इतरेतरयोग-द्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—भासनं=दीप्तिः, उपसंभाषा=उपसान्त्व-नम्, ज्ञानं=सम्यगवबोधः, यत्नः=उत्साहः, विमतिः=नानामतिः, उपमन्त्रणम्= एकान्ते भाषणम्, इत्येतेष्वर्थेषु वर्त्तमानाद् वदधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०— भासनम्—शास्त्रे वदते। उपसम्भाषा—कर्मकरानुपवदते। ज्ञानम्—व्याकरणे वदते। यत्नः—क्षेत्रे वदते, गेहे वदते। विमतिः—क्षेत्रे विवदन्ते, गेहे विवदन्ते। उपमन्त्रणम्—राजानम् उपवदते मन्त्री ॥

भाषार्थः—[भासन...णेषु] भासन आदि अर्थों में वर्त्तमान [वदः] वद धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—भासन—शास्त्रे वदते (शास्त्र में उसकी बुद्धि प्रकाशित होती है) । उपसंभाषा—कर्मकरानुपवदते (नौकरों को सान्त्वना देता है) । ज्ञान—व्याकरणे वदते (व्याकरण का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करता है) यत्न—क्षेत्रे वदते, गेहे वदते (क्षेत्र में वा घर में पुरुषार्थ करता है) विमति—क्षेत्रे विवदन्ते, गेहे विवदन्ते (खेत में या घर में विवाद करते हैं) । उपमन्त्रण—राजानम् उपवदते मन्त्री (राजा से मन्त्री एकान्त में सलाह करता है) ॥

यहाँ से 'वदः' की अनुवृत्ति १।३।५० तक जायेगी ॥

व्यक्तवाचां समुच्चारणे ॥१।३।४८॥

व्यक्तवाचां ६।३॥ समुच्चारणे ७।१॥ स०—व्यक्ता वाग् येषाम् ते व्यक्तवाचः, तेषां व्यक्तवाचाम्, बहुव्रीहिः । समुच्चारणे इत्यत्र कुगतिप्रादयः (२।२।१८) इत्यनेन तत्पुरुषः ॥ अनु०—वदः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—व्यक्तवाचां=स्पष्टवाचां समुच्चारणे=सहोच्चारणेऽर्थे वर्त्तमानाद् वदधातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—संप्रवदन्ते ब्राह्मणाः । संप्रवदन्ते क्षत्रियाः ॥

भाषार्थः—[व्यक्तवाचाम्] स्पष्टवाणीवालों के [समुच्चारणे] सहोच्चारण =एक साथ उच्चारण करने अर्थ में वर्त्तमान वद धातु से आत्मनेपद हो जाता है ॥ उदा०—सम्प्रवदन्ते ब्राह्मणाः (ब्राह्मण परस्पर मिलकर उच्चारण करते हैं) । संप्रवदन्ते क्षत्रियाः (क्षत्रिय परस्पर मिलकर उच्चारण करते हैं) ॥

यहां से "व्यक्तवाचां समुच्चारणे" सारा सूत्र १।३।५० तक जायेगा ॥

अनोरकर्मकात् ॥१।३।४९॥

अनोः ५।१॥ अकर्मकात् ५।१॥ अनु०—व्यक्तवाचां समुच्चारणे, वदः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अनुपूर्वाद् अकर्मकाद् वद-धातोर्व्यक्तवाचां समुच्चारणेऽर्थे वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—अनुवदते कठः कलापस्य । अनुवदते मौद्गः पैप्पलादस्य ॥

भाषार्थः—[अनोः] अनु पूर्वक [अकर्मकात्] अकर्मक वद धातु से व्यक्तवाणीवालों के एक साथ उच्चारण करने अर्थ में आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—अनुवदते कठः कलापस्य (जैसे कलाप-शाखाध्यायी बोलता है, वैसे ही उसके पीछे कठ बोलता है) । अनुवदते मौद्गः पैप्पलादस्य (जैसे पैप्पलाद-शाखावाला बोलता है, वैसे ही उसके पीछे मौद्ग-शाखावाला बोलता है) ॥

आत्मनेपद

विभाषा विप्रलापे ॥१।३।५०॥ आत्मनेपद विभाषा

विभाषा १।१॥ विप्रलापे ७।१॥ अनु०—व्यक्तवाचां समुच्चारणे, वदः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—विप्रलापे=विरुद्धकथनात्मके व्यक्तवाचां समुच्चारणेऽर्थे वर्त्तमानाद् वद-धातोरात्मनेपदं वा भवति ॥ उदा०— विप्रवदन्ते सांवत्सराः, विप्रवदन्ति सांवत्सराः। विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा वैयाकरणाः ॥

भाषार्थः—[विप्रलापे] परस्पर-विरुद्ध कथनरूप, व्यक्तवाणीवालों के सह उच्चारण में वर्त्तमान वद धातु से आत्मनेपद [विभाषा] विकल्प करके होता है, पक्ष में परस्मैपद होता है ॥ पूर्वसूत्र व्यक्तवाचां समुच्चारणे (१।३।४८) से नित्य आत्मनेपद प्राप्त था, यहां विकल्प कर दिया ॥ उदा०—विप्रवदन्ते सांवत्सराः, विप्रवदन्ति सांवत्सराः (ज्योतिषी लोग परस्पर विरुद्ध कथन करते हैं)। विप्रवदन्ते विप्रवदन्ति वा वैयाकरणाः (वैयाकरण लोग परस्पर खण्डन करते हैं) ॥

अवाद् ग्रः ॥१।३।५१॥ आत्मनेपद

अवात् ५।१॥ ग्रः ५।१॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—'गॄ निगरणे' तुदादौ पठ्यते, तस्येदं ग्रहणम्। अवपूर्वाद् 'गॄ निगरणे' इत्यस्माद् धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—अवगिरते, अवगिरेते, अवगिरन्ते ॥

भाषार्थः—[अवात्] अवपूर्वक [ग्रः] 'गॄ निगरणे' धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—अवगिरते (निगलता है) ॥

पूर्ववत् 'गॄ+त' होकर तुदादिभ्यः शः (३।१।७७) से शप् का अपवाद श होकर, ॠत इद्धातोः (७।१।१००) से ॠ को इत् होकर, उरण्रपरः (१।१।५०) से रपरत्व होकर—'अव गिर् अ त'=अवगिरते पूर्ववत् बन गया ॥

यहां से 'ग्रः' की अनुवृत्ति १।३।५२ तक जायेगी ॥

समः प्रतिज्ञाने ॥१।३।५२॥ आत्मनेपद

समः ५।१॥ प्रतिज्ञाने ७।१॥ अनु०— ग्रः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम्पूर्वात् प्रतिज्ञाने=प्रतिज्ञाऽर्थे वर्त्तमानाद् गॄ-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा० – शतं सङ्गिरते। नित्यं शब्दं सङ्गिरते ॥

भाषार्थः—[समः] सम् पूर्वक गॄ धातु से [प्रतिज्ञाने] स्वीकार करने अर्थ में आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—शतं संगिरते (सौ रुपये स्वीकार करता है)। नित्यं शब्दं संगिरते (शब्द नित्य होता है, ऐसा स्वीकार करता है) ॥

आत्मनेपद

उदश्चरः सकर्मकात् ॥१।३।५३॥

उदः ५।१॥ चरः ५।१॥ सकर्मकात् ५।१॥ स०—सह कर्मणेति सकर्मकः, तस्मात्, बहुव्रीहिः ॥ **अनु०**—आत्मनेपदम् ॥ **अर्थः**—उत्पूर्वात् सकर्मकात् चर्-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ **उदा०**—गेहमुच्चरते । कुटुम्बमुच्चरते । गुरुवचनमुच्चरते ॥

भाषार्थः--[उदः] **उत् पूर्वक** [सकर्मकात्] **सकर्मक** [चरः] **चर् धातु से आत्मनेपद होता है ॥ यहाँ गेहम् कुटुम्बं आदि चर् धातु के कर्म हैं, अत: सकर्मक चर् धातु है ॥** उदा०—**गेहम् उच्चरते (घर की बात न मानकर चला जाता है)। कुटुम्ब-मुच्चरते (कुटुम्ब की बात न मानकर चला जाता है) । गुरुवचनमुच्चरते (गुरुवचन न मानकर चला जाताहै) । उत् चरते, यहां स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से त को च् होकर उच्चरते बना । शेष पूर्ववत् ही है ॥**

यहां से "चरः" की **अनुवृत्ति** १।३।५४ तक जाती है ॥

आत्मनेपद

समस्तृतीयायुक्तात् ॥१।३।५४॥

समः ५।१॥ तृतीयायुक्तात् ५।१॥ स०—तृतीयया युक्तः तृतीयायुक्तः, तस्मात्, तृतीयातत्पुरुषः ॥ **अनु०**—चरः, आत्मनेपदम् ॥ **अर्थः**—सम्पूर्वात् तृतीया-युक्तात् चर्-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ **उदा०**—अश्वेन सञ्चरते ॥

भाषार्थः—[तृतीयायुक्तात्] **तृतीया विभक्ति से युक्त** [समः] **सम् पूर्वक चर् धातु से आत्मनेपद होता है ॥** उदा०—**अश्वेन सञ्चरते (घोड़े से चलता है) ॥**

यहां से "समस्तृतीयायुक्तात्" की अनुवृत्ति १।३।५५ तक जायेगी ॥

आत्मनेपद

दाणश्च सा चेच्चतुर्थ्यर्थे ॥१।३।५५॥

दाणः ५।१॥ च अ० ॥ सा १।१॥ चेत् अ० ॥ चतुर्थ्यर्थे ७।१॥ स०—चतुर्थ्या अर्थः चतुर्थ्यर्थः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ **अनु०**—समस्तृतीयायुक्तात्, आत्मनेपदम् ॥ **अर्थः**—सम्पूर्वात् तृतीयायुक्तात् 'दाण् दाने' इति धातोरात्मनेपदं भवति, सा चेत् तृतीया चतुर्थ्यर्थे भवति ॥ **उदा०**—स्वयं ह ओदनं भुङ्क्ते उपा-ध्यायेन सक्तून् संप्रयच्छते ॥ **अशिष्टव्यवहारे तृतीया चतुर्थ्यर्थे भवतीति वक्तव्यम्,** इत्यनेन वार्त्तिकेनात्र चतुर्थ्यर्थे तृतीया भवति ॥

भाषार्थः—**तृतीया से युक्त सम् पूर्वक** [दाणः] **दाण् धातु से** [च]**भी आत्मने-पद होता है,** [चेत्] **यदि** [सा] **वह तृतीया** [चतुर्थ्यर्थे] **चतुर्थी के अर्थ में हो तो ॥ चतुर्थी के अर्थ में तृतीया उपरिलिखित वार्त्तिक से होती है ॥ दाण् को यच्छ आदेश** पाघ्राध्मास्थाम्ना० (७।३।७८) **सूत्र से शित् परे रहते हुआ है । शेष पूर्ववत ही समझें ॥**

उदा०—स्वयं ह ओदनं भुङ्क्ते उपाध्यायेन सक्तून् संप्रयच्छते (छात्र अपने आप चावल खाता है और उपाध्याय को सत्तू देता है) ॥

उपाद्यमः स्वकरणे ॥१।३।५६॥

उपात् ५।१॥ यमः ५।१॥ स्वकरणे ७।१॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—उपपूर्वात् स्वकरणे=पाणिग्रहणे=विवाहेऽर्थे वर्त्तमानाद् यम्-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—कन्यामुपयच्छते ॥

भाषार्थः—[स्वकरणे] स्वकरण अर्थात् पाणिग्रहण अर्थ में वर्त्तमान [उपात्] उप पूर्वक [यमः] यम् धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—कन्यामुपयच्छते (कन्या से विवाह करता है) ॥ 'उप+यम्+शप्+त' इस अवस्था में इषुगमियमां छः (७।३।७७) से छ आदेश अन्त्य अल् मकार के स्थान में होकर, छे च (६।१।७१) से तुक् का आगम होकर—'उप+य+त्+छ्+अ+त' बना। स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से त् को च, तथा शेष कार्य पूर्ववत् होकर—कन्याम् उपयच्छते बन गया ॥

ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः ॥१।३।५७॥

ज्ञाश्रुस्मृदृशां ६।३॥ सनः ५।१॥ स०—ज्ञा च श्रु च स्मृ च दृश् च इति ज्ञाश्रुस्मृदृशः, तेषां ज्ञाश्रुस्मृदृशाम्, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्मनेपदम्॥ अर्थः—ज्ञा श्रु स्मृ दृश् इत्येतेषां सन्नन्तानाम् आत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—धर्मं जिज्ञासते । गुरुं शुश्रूषते । नष्टं सुस्मूर्षते । नृपं दिदृक्षते ॥

भाषार्थः—[ज्ञाश्रुस्मृदृशाम्] ज्ञा, श्रु, स्मृ, दृश इन धातुओं के [सनः] सन्नन्त से परे आत्मनेपद होता है ॥ ये धातुयें परस्मैपदी थीं, अतः इन्हें पूर्ववत्सनः (१।३।६२) से आत्मनेपद प्राप्त नहीं था, सो यह सूत्र बनाया ॥ उदा०—धर्मं जिज्ञासते (धर्म को जानने की इच्छा करता है)। गुरुं शुश्रूषते (गुरुवचन को सुनने की इच्छा करता है)। नष्टं सुस्मूर्षते (नष्ट हुये को स्मरण करना चाहता है)। नृपं दिदृक्षते (राजा को देखने की इच्छा करता है) ॥

यहाँ से "सनः" की अनुवृत्ति १।३।५९ तक जायेगी ॥

नानोर्ज्ञः ॥१।३।५८॥

न अ० ॥ अनोः ५।१॥ ज्ञः ५।१॥ अनु०—सनः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अनुपूर्वात् सन्नन्तात् ज्ञा-धातोरात्मनेपदं न भवति ॥ पूर्वेण सूत्रेणात्मनेपदं प्राप्तं तत् प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—पुत्रम् अनुजिज्ञासति ॥

भाषार्थः—[अनोः] अनु पूर्वक सन्नन्त [ज्ञः] ज्ञा धातु से आत्मनेपद [न] नहीं होता है ।। पूर्व सूत्र से आत्मनेपद प्राप्त था, प्रतिषेध कर दिया ।।

उदा०—पुत्रम् अनुजिज्ञासति (पुत्र को अनुमति देना चाहता है) ।।

यहां से "न" की अनुवृत्ति १।३।५९ तक जाती है ।।

प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः ।।१।३।५९।।

प्रत्याङ्भ्यां ५।२।। श्रुवः ५।१।। स०—प्रतिश्च आङ् च प्रत्याङौ, ताभ्याम् —इतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—न, सनः, आत्मनेपदम् ।। अर्थः—प्रति आङ् इत्येवं-पूर्वात् सन्नन्तात् श्रु-धातोरात्मनेपदं न भवति ।। उदा०—प्रतिशुश्रूषति । आशुश्रूषति ।।

भाषार्थः—[प्रत्याङ्भ्याम्] प्रति आङ्पूर्वक सन्नन्त [श्रुवः] श्रु धातु से आत्मनेपद नहीं होता है ।। ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः (१।३।५७) से सामान्य करके आत्मने-पद प्राप्त था, यहाँ प्रति आङ्पूर्व होने पर निषेध कर दिया है ।। उदा० प्रति-शुश्रूषति (बदले में सुनना चाहता है)। आशुश्रूषति (अच्छे प्रकार सुनना चाहता है) ।।

शदेः शितः ।।१।३।६०।।

शदेः ५।१।। शितः ६।१।। अनु०—आत्मनेपदम् ।। अर्थः—शित् सम्बन्धी यः शद्लृ धातुः, तस्मादात्मनेपदं भवति ।। उदा०—शीयते । शीयेते । शीयन्ते ।।

भाषार्थः—[शितः] शित्सम्बन्धी जो [शदेः] 'शद्लृ शातने' धातु, उससे आत्मनेपद होता है ।। उदा०—शीयते (काटता है)। शीयेते । शीयन्ते ।। शद्+शप्+त', इस अवस्था में पाघ्राध्मास्था० (७।३।७८) से 'शीय्' आदेश होकर पूर्ववत् शीयते बन जाता है ।।

यहां से "शितः" की अनुवृत्ति १।३।६१ तक जाती है ।।

म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च ।।१।३।६१।।

म्रियतेः ५।१।। लुङ्लिङोः ७।२।। च अ० ।। स०—लुङ् च लिङ् च लुङ्लिङौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः।। अनु०—शितः, आत्मनेपदम् ।। अर्थः—लुङ्लिङोः शिद्भावी च यो "मृङ् प्राणत्यागे" इति धातुः, तस्मादात्मनेपदं भवति।। उदा०—अमृत । मृषीष्ट। शित्—म्रियते । म्रियेते । म्रियन्ते ।।

भाषार्थः—[लुङ्लिङोः] लुङ् लिङ् लकार में [च] तथा शित् विषय में जो [म्रियतेः] 'मृङ् प्राणत्यागे' धातु, उससे आत्मनेपद होता है ।। मृङ् धातु ङित थी,

सो उसे अनुदात्तङित० (१।३।१२) सूत्र से आत्मनेपद सिद्ध ही था, पुनर्विधान नियमार्थ है कि इसको इन-इन विषयों में ही आत्मनेपद हो, सर्वत्र न हो ।। उदा०— अमृत, मृषीष्ट (वह मर गया, वा मर जाये)। शित्—म्रियते (मरता है), म्रियेते, म्रियन्ते ।। अमृत, मृषीष्ट की सिद्धि परि० १।२।११ के समान समझें । १।२।११ सूत्र से कित्वत् होता है, तथा अमृत में सिच के सकार का लोप ह्रस्वादङ्गात् (८।२।२७) से होगा ।। म्रियते में रिङ् शयग्लिङ्क्षु (७।४।२८) से मृङ् के ऋ को रिङ् आदेश होकर, अचिश्नुधातुभ्रुवां० (६।४।७७) से इयङ् होकर 'म्रिय् अ त' रहा, पूर्ववत् सब होकर— म्रियते बन गया ।।

पूर्ववत् सनः ॥१।३।६२॥

पूर्ववत् अ० ॥ सनः ५।१॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ पूर्ववद् इत्यत्र तेन तुल्यं० (५।१।११५) इति वतिः ॥ **अर्थः**—सनः पूर्वो यो धातुः 'आत्मनेपदी' तद्वत् सन्नन्तादपि आत्मनेपदं भवति ।। **उदा०**—आस्ते, शेते । अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२) इत्यनेनात्रात्मनेपदम् । तद्वत् सन्नन्तादपि आसिसिषते, शिशयिषते, इत्यत्रात्मनेपदं सिध्यति ॥

भाषार्थः—सन् प्रत्यय के आने के पूर्व जो धातु आत्मनेपदी रही हो, उससे [सनः] सन्नन्त से भी [पूर्ववत्] पूर्ववत् आत्मनेपद होता है ।। उदा०—आसिसिषते (बैठने की इच्छा करता है) । शिशयिषते (सोने की इच्छा करता है ।। आस् तथा शीङ् धातु सन् लाने से पूर्व आत्मनेपदी थीं, सो सन्प्रत्ययान्त बन जाने पर भी उन से आत्मनेपद हुआ ।। यहां इतना और समझना चाहिए कि सन् से पूर्व जो आत्मनेपदी धातु उससे आत्मनेपद कह देने पर यह बात स्वयमेव सिद्ध है कि सन् से पूर्व जो परस्मैपदी धातु हैं, उससे परस्मैपद हो जायगा, जैसे पिपठिषति ।। सन्नन्त की सिद्धियां पूर्व दिखा ही आये हैं, यहां केवल 'आस्+इट्+सन्' ऐसी अवस्था में अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२) से प्रथम एकाच को द्वित्व न होकर द्वितीय एकाच् को 'आ सि सि स त' ऐसा द्वित्व हुआ, यही विशेष है । शेष पूर्ववत् हुआ ।।

आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य ।।१।३।६३॥

आम्प्रत्ययवत् अ० ।। कृञः ६।१॥ अनुप्रयोगस्य ६।१॥ स०—आम् प्रत्ययो यस्मात् स आम्प्रत्ययः, बहुव्रीहिः । तस्य इव आम्प्रत्ययवत्, तत्र तस्येव (५।१।११५) इत्यनेन वतिः ॥ **अनु०**—आत्मनेपदम् ।। **अर्थः**—आम्प्रत्ययस्येव धातोरनुप्रयोगस्य कृञ आत्मनेपदं भवति ॥ **उदा०**—ईक्षाञ्चक्रे । ईहाञ्चक्रे ।।

भाषार्थः—[आम्प्रत्ययवत्] जिस धातु से आम् प्रत्यय किया गया है, उसके

समान ही [अनुप्रयोगस्य] पश्चात् प्रयोग की गई [कृञः] कृ धातु से आत्मनेपद हो जाता है ॥

प्रोपाभ्यां युजेरयज्ञपात्रेषु ॥१।३।६४॥

प्रोपाभ्यां ५।२॥ युजे. ५।१॥ अयज्ञपात्रेषु ७।३॥ स०— प्रोपाभ्यामित्यत्रेतरेतर-योगद्वन्द्वः । यज्ञस्य पात्राणि यज्ञपात्राणि, षष्ठीतत्पुरुषः । न यज्ञपात्राणि अयज्ञ-पात्राणि, तेष्वयज्ञपात्रेषु, नञ्तत्पुरुषः ॥ **अनु०**— आत्मनेपदम् ॥ **अर्थः**—प्र, उप इत्येवंपूर्वाद् युज्-धातोरयज्ञपात्रप्रयोगविषये आत्मनेपदं भवति ॥ **उदा०**— प्रयुङ्क्ते । उपयुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—[अयज्ञपात्रेषु] **अयज्ञपात्र विषय में** [प्रोपाभ्याम्] **प्र उप पूर्वक** [युजेः] **'युजिर् योगे' धातु से आत्मनेपद हो जाता है ॥**

समः क्ष्णुवः ॥१।३।६५॥

समः ५।१॥ क्ष्णुवः ५।१॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम् पूर्वात् 'क्ष्णु तेजने' इति धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—संक्ष्णुते । संक्ष्णुवाते । संक्ष्णुवते ॥

भाषार्थः—[समः] **सम् पूर्वक** [क्ष्णुवः] **'क्ष्णु तेजने' धातु से आत्मनेपद होता है॥** उदा०—**संक्ष्णुते (तीक्ष्ण करता है)। संक्ष्णुवाते, संक्ष्णुवते में अचि श्नुधातुभ्रुवां० (६।४।७७) से उवङ् आदेश हो जाता है ॥**

भुजोऽनवने ॥१।३।६६॥

भुजः ५।१॥ अनवने ७।१॥ स०—अनवन इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ **अनु०**—आत्मनेपदम् ॥ **अर्थः**—'भुज पालनाभ्यवहारयोः' इति रुधादौ पठ्यते, तस्येदं ग्रहणम् । भुजधातोरनवनेऽर्थे वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति ॥ **उदा०**—भुङ्क्ते । भुञ्जाते । भुञ्जते ॥

भाषार्थः—[अनवने] **अनवन अर्थात् पालन न करने अर्थ में** [भुजः] **भुज् धातु से आत्मनेपद होता है ॥** उदा०—**भुङ्क्ते (खाता है) ॥ परि० १।३।६४ के समान ही भुङ्क्ते की सिद्धि जाने ॥**

णेरणौ यत्कर्म णौ चेत्स कर्त्तानाध्याने ॥१।३।६७॥

णीः ५।१॥ अणौ ७।१॥ यत् १।१॥ कर्म १।१॥ णौ ७।१॥ चेत् अ० ॥ सः १।१॥ कर्त्ता १।१॥ अनाध्याने ७।१॥ स०—न णिः अणिः, तस्मिन्नणौ, नञ्तत्पुरुषः। न आध्यानम् अनाध्यानं, तस्मिन्ननाध्याने, नञ्तत्पुरुषः ॥ **अनु०**—आत्मनेपदम् ॥ **अर्थः**—

अण्यन्तावस्थायां यत्कर्म, ण्यन्तावस्थायां चेत् =यदि तदेव कर्म स एव कर्त्ता भवति, तदा तस्माद्ण्यन्ताद्धातोरात्मनेपदं भवति, आध्यानं वर्जयित्वा ॥ उदा०—अण्यन्ते—आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः, ण्यन्ते—आरोहयते हस्ती स्वयमेव । अण्यन्ते - उपसिञ्चन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः, ण्यन्ते—उपसेचयते हस्ती स्वयमेव । अण्यन्ते - पश्यन्ति भृत्या राजानम्, ण्यन्ते—दर्शयते राजा स्वयमेव ॥

भाषार्थः—[अणौ] अण्यन्त अवस्था में [यत्] जो [कर्म] कर्म, [सः] वही [चेत्] यदि [णौ] ण्यन्त अवस्था में [कर्त्ता] कर्त्ता बन रहा हो, तो ऐसी [णेः] ण्यन्त धातु से आत्मनेपद होता है, [अनाध्याने] आध्यान (उत्कण्ठापूर्वक स्मरण) अर्थ को छोड़कर ॥ उदा०—अण्यन्ते—आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः (महावत हाथी पर चढ़ते हैं), यहां पर अण्यन्त आङ्पूर्वक रुह् धातु का "हस्तिनं" कर्म है। जब हाथी स्वयं झुककर महावत को चढ़ाने की चेष्टा करता है, तब उसी वाक्य को "आरोहयते हस्ती स्वयमेव" (हाथी स्वयं चढ़ाता है) इस प्रकार बोला जाता है। यहां पर आङ्पूर्वक रुह् धातु ण्यन्त है। अण्यन्त अवस्था में उसका कर्म 'हस्तिनं' था, वही यहां पर कर्त्ता हुआ है। अतः ण्यन्त आङ्पूर्वक रुह् धातु से आत्मनेपद हो हो गया ॥ उपसिञ्चन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः (महावत हस्ती को पानी फेंककर नहलाते हैं), उपसेचयते हस्ती स्वयमेव (हाथी स्वयं झुककर महावत से पानी डलवाता है)। पश्यन्ति भृत्या राजानम् (नौकर राजा को देख रहे हैं), दर्शयते राजा स्वयमेव (राजा इस प्रकार से कर रहा है कि नौकर उसे देख लें)। इन उदाहरणों में भी अण्यन्त अवस्था के कर्म 'हस्तिनं' और 'राजानम्' ण्यन्त अवस्था में कर्त्ता बन गये, तो आत्मनेपद हो गया है ॥ सिद्धि में कुछ भी विशेष नहीं है। हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् आकर—आ रुह् इ बना, सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से पुनः धातु संज्ञा होकर पूर्ववत् शप् त आकर गुण होकर—'आ रोह इ अ त' रहा। पुनः गुण होकर—आ रोहे अ त, अयादेश होकर—आरोहयते बना ॥

यहां से "णेः" की अनुवृत्ति १।३।७१ तक जायेगी ॥

भीस्म्योर्हेतुभये ॥१।३।६८॥

भीस्म्योः ६।२॥ हेतुभये ७।१॥ स०—भी च स्मि च भीस्मी, तयोः भीस्म्योः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। हेतोर्भयं हेतुभयं, तस्मिन्···पञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—णेः,आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—'ञिभी भये,' 'ष्मिङ् ईषद्धसने,' आभ्यां ण्यन्ताभ्यामात्मनेपदं

भवति, हेतोः=प्रयोजकाच्चेद् भयं भवति ॥ उदा०—जटिलो भीषयते, मुण्डो भीषयते । जटिलो विस्मापयते, मुण्डो विस्मापयते ॥

भाषार्थः—[भीस्म्योः] भी स्मि ण्यन्त धातुओं से [हेतुभये] हेतु=प्रयोजक कर्त्ता से भय होने पर आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—जटिलो भीषयते,मुण्डो भीषयते (जटावाला वा मुंडा हुआ डराता है)। जटिलो विस्मापयते, मुण्डो विस्मापयते(जटावाला वा मुंडा हुआ डराता है, विस्मित करता है) ॥

'भीषयते' की सिद्धि परि० १।१।४५ में कर आये हैं। 'विस्मापयते' में णिच् परे रहते नित्यं स्मयतेः(६।१।५६) से स्मिङ् को आत्व होकर— वि स्मा इ, अर्तिह्रीव्ली०(७।३।३६) से पुक् आगम हुआ । सो 'विस्मा पुक् इ' रहा । शेष पूर्ववत् होकर 'विस्मापयते' बन जायेगा ॥

गृधिवञ्च्योः प्रलम्भने ॥१।३।६९॥

गृधिवञ्च्योः ६।२॥ प्रलम्भने ७।१॥ स०—गृधिश्च वञ्चिश्च गृधिवञ्ची, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—णेः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—'गृधु अभिकांक्षायाम्,' 'वञ्चु गतौ' इत्येतयोर्ण्यन्तयोः प्रलम्भनेऽर्थे वर्त्तमानयोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—माणवकं गर्धयते । माणवकं वञ्चयते ॥

भाषार्थः—[गृधिवञ्च्योः] गृधु, वञ्चु ण्यन्त धातुओं से [प्रलम्भने] प्रलम्भन अर्थात् ठगने अर्थ में आत्मनेपद हो जाता है ॥ उदा०— माणवकं गर्धयते (बच्चे को भूषण आदि का प्रलोभन देता है) । माणवकं वञ्चयते (बच्चे को ठगता है) ॥

लियः सम्माननशालीनीकरणयोश्च ॥१।३।७०॥

लियः ५।१॥ सम्माननशालीनीकरणयोः ७।२॥ च अ० ॥ स०—सम्माननञ्च शालीनीकरणञ्च इति सम्माननशालीनीकरणे, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—णेः, आत्मनेपदम ॥ अर्थः— ण्यन्तात् लियः धातोः सम्मानने=पूजने, शालीनीकरणे=अभिभवने चकारात् प्रलम्भने च वर्त्तमानादात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—जटाभिरालापयते । श्येनो वर्त्तिकामुल्लापयते । प्रलम्भने—कस्त्वामुल्लापयते ॥

भाषार्थः—यहाँ 'लियः' से 'लीङ् श्लेषणे' तथा 'ली श्लेषणे' दोनों धातुओं का ग्रहण है । [सम्मानन··करणयो] सम्मानन तथा शालीनीकरण, [च] चकार से प्रलम्भन अर्थ में वर्त्तमान [लियः] ण्यन्त ली धातु से आत्मनेपद होता है ॥ उदा०— जटाभिरालापयते (जटाओं के द्वारा पूजा को प्राप्त होता है) । श्येनो वर्त्तिकामुल्लापयते (बाज पक्षी बत्तख को दबाता है) । प्रलम्भने—कस्त्वामुल्लापयते

(कौन तुझको ठगता है) ॥ उद्+लापयते=उल्लापयते में तोर्लि (८।४।५९) से द् को ल् हो गया है। सर्वत्र विभाषा लीयतेः (६।१।५०) से आत्व होकर, अर्तिह्री्व्ली० (७।३।३६) से पुक् आगम हुआ है। शेष पूर्ववत् ही जानें ॥

मिथ्योपपदात् कृञोऽभ्यासे ॥१।३।७१॥

मिथ्योपपदात् ५।१॥ कृञः ५।१॥ अभ्यासे ७।१॥ स०—मिथ्याशब्द उपपदं यस्य स मिथ्योपपद॰, तस्मात्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—णेः, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—मिथ्याशब्दोपपदादभ्यासे=पुनः पुनरावृत्तिकरणेऽर्थे वर्त्तमानात् कृञ-धातोरात्मनेपदं भवति ॥ उदा०—पदं मिथ्या कारयते ॥

भाषार्थः—[मिथ्योपपदात्] मिथ्या शब्द उपपद (=समीप पद) है जिसके, ऐसी ण्यन्त [कृञः] कृञ् धातु से [अभ्यासे] अभ्यास अर्थात् बार-बार करने अर्थ में आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—पदं मिथ्या कारयते (पद का बार-बार अशुद्ध उच्चारण करता है) ॥

स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले ॥१।३।७२॥

स्वरितञितः ५।१॥ कर्त्रभिप्राये ७।१॥ क्रियाफले ७।१॥ स०—स्वरितश्च ञश्च स्वरितञौ, स्वरितञौ इतौ यस्य स स्वरितञित्, तस्मात्, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः। कर्त्तारमभिप्रैतीति कर्त्रभिप्रायं, तस्मिन्, कर्मण्यण् (३।२।१) इत्यण्, उपपदतत्पुरुषः। क्रियाफले इत्यत्र षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—स्वरितेतो ञितश्च धातोरात्मनेपदं भवति, क्रियाफलं यदि कर्त्तारमभिप्रैति ॥ उदा०—यजते। पचते। सुनुते। कुरुते ॥

भाषार्थः—[स्वरितञितः] स्वरितेत्=स्वरित इतवाली तथा ञकार इत्-वाली धातुओं से आत्मनेपद होता है, यदि उस [क्रियाफले] क्रिया का फल [कर्त्रभिप्राये] कर्त्ता को मिलता हो तो ॥

उदा०—यजते (अपने लिये यज्ञ करता है)। पचते (अपने लिये पकाता है) ॥ विदित रहे कि यहां 'यजते' का अर्थ यह होगा कि वह अपने स्वर्गादि फल के लिये यज्ञ करता है,न कि यजमान के लिये, उसमें तो यजति होगा। पचते का अर्थ भी इसी प्रकार अपने खाने के लिये पकाता है, न कि किसी दूसरे के लिये, उसमें पचति होगा। इस प्रकार इन धातुओं से उभयपद (आत्मनेपद-परस्मैपद) सिद्ध हो जाता है, ऐसा समझना चाहिये ॥ कुरुते की सिद्धि परि० १।३।३२ में देखें। तथा सुनुते की सिद्धि परि० १।१।५ के सुनुतः के समान जानें। केवल यहां आत्मनेपद का 'त' आकर टित आत्मने० (३।४।७९) से एत्व हो जावेगा ॥ जहां तक कर्त्रभिप्राय

क्रियाफल की अनुवृत्ति जायेगी, वहां तक इसी प्रकार आत्मनेपद परस्मैपद दोनों ही हुआ करेंगे, ऐसा समझना चाहिये ॥

यहां से 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' की अनुवृत्ति १।३।७७ तक जायेगी ॥

अपाद्वदः ॥१।३।७३॥

अपात् ५।१॥ वदः ५।१॥ अनु०—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अपपूर्वाद् वद-धातोः कर्त्रभिप्राये क्रियाफलेऽर्थे आत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—धनकामो न्यायमपवदते ॥

भाषार्थः—[अपात्] अप पूर्वक [वदः] वद धातु से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल अर्थ में आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—धनकामो न्यायम् अपवदते (धन का लोभी न्याय छोड़कर बोलता है)। क्रिया का फल कर्त्ता को न मिलता हो, तो 'अपवदति' बनेगा ॥

णिचश्च ॥१।३।७४॥

णिचः ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—णिजन्ताद्धातोः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—कटं कारयते ॥

भाषार्थः—[णिचः] णिजन्त धातु से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल अर्थ में [च] भी आत्मनेपद होता है ॥ उदा०—कटं कारयते (चटाई को अपने लिये बनवाता है)। यदि दूसरे के लिये बनवाता है, तो 'कटं कारयति' बनेगा ॥

समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे ॥१।३।७५॥

समुदाङ्भ्यः ५।३॥ यमः ५।१॥ अग्रन्थे ७।१॥ स०—समुदाङ्भ्य इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः। 'अग्रन्थे' इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—सम् उद् आङ् इत्येवंपूर्वाद् यम्-धातोः कर्त्रभिप्राये क्रियाफलेऽर्थे आत्मनेपदं भवति, ग्रन्थविषयश्चेत् प्रयोगो न स्यात् ॥ उदा०—व्रीहीन् संयच्छते। भारम् उद्यच्छते। वस्त्रम् आयच्छते ॥

भाषार्थः—[समुदाङ्भ्यः] सम् उद् आङ् पूर्वक [यमः] यम् धातु से [अग्रन्थे] ग्रन्थ-विषयक प्रयोग यदि न हो, तो कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद हो जाता है ॥ उदा०—व्रीहीन् संयच्छते (चावलों को इकट्ठा करता है)। भारम् उद्यच्छते (भार को उठाता है)। वस्त्रम् आयच्छते (वस्त्र को फैलाता है)॥

आयच्छते इत्यादि की सिद्धि आङो यमहनः (१।३।२८) सूत्र पर कर आये हैं, वहीं देखें। अकर्त्रभिप्राय में 'संयच्छति' इत्यादि भी बन ही जायेगा ॥

अनुपसर्गाज्ज्ञः ॥१।३।७६॥

अनुपसर्गात् ५।१॥ ज्ञः ५।१॥ स०—न विद्यते उपसर्गो यस्य सोऽनुपसर्गः, तस्मात्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—अनुपसर्गाद् ज्ञा-धातोरात्मनेपदं भवति कर्त्रभिप्राये क्रियाफले ॥ उदा०—गां जानीते। अश्वं जानीते ॥

भाषार्थः—[अनुपसर्गात्] उपसर्गरहित [ज्ञः] ज्ञा धातु से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल अर्थ में आत्मनेपद होता है ॥ उदा० गां जानीते (अपनी गाय को जानता है)। अश्वं जानीते (अपने घोड़े को जानता है) ॥ सिद्धियां अपह्नवे ज्ञः (१।३।४४) सूत्र की तरह ही समझें। अकर्त्रभिप्राय में 'अश्वं जानाति' बनेगा ॥

विभाषोपपदेन प्रतीयमाने ॥१।३।७७॥

विभाषा १।१॥ उपपदेन ३।१॥ प्रतीयमाने ७।१॥ अनु०—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले, आत्मनेपदम् ॥ अर्थः—कर्त्रभिप्राये क्रियाफले उपरिष्टात् पञ्चभिः सूत्रैरात्मनेपदं विहितम्, तस्मिन् विषये उपपदेन=समीपोच्चरितेन पदेन कर्त्रभिप्राये क्रियाफले प्रतीयमाने=ज्ञायमाने सति विभाषाऽऽत्मनेपदं भवति ॥ उदा०—स्वं यज्ञं यजति, स्वं यज्ञं यजते। स्वं कटं करोति, स्वं कटं कुरुते। स्वं पुत्रम् अपवदति, स्वं पुत्रमपवदते, इत्यादीनि ॥

भाषार्थः - [उपपदेन] उपपद=समीपोच्चरित पद के द्वारा कर्त्रभिप्राय क्रियाफल के [प्रतीयमाने] प्रतीत होने पर [विभाषा] विकल्प करके, कर्त्रभिप्राय क्रियाफल विषय में आत्मनेपद होता है ॥ ऊपर के पांचों सूत्रों से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद नित्य ही प्रप्त था, सो इस सूत्र ने उस विषय में भी विकल्प विधान कर दिया ॥ यहाँ 'स्वं' उपपद से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल प्रतीत हो रहा है ॥

उदा०—स्वं यज्ञं यजति, स्वं यज्ञं यजते (अपने यज्ञ को करता है)। स्वं कटं करोति, स्वं कटं कुरुते (अपनी चटाई बनाता है)। स्वं पुत्रम् अपवदति, स्वं पुत्रम् अपवदते (अपने पुत्र को बुरा-भला कहता है) ॥

[परस्मैपद-प्रकरणम्]

शेषात् कर्त्तरि परस्मैपदम् ॥१।३।७८॥

शेषात् ५।१॥ कर्त्तरि ७।१॥ परस्मैपदम् १।१॥ अर्थः--येभ्यो धातुभ्यो येन

विशेषणेनात्मनेपदमुक्तं, ततो यदन्यत् स शेषः। शेषात् कर्त्तरि वाच्ये परस्मैपदं भवति।
उदा०—याति । वाति । प्रविशति ॥

भाषार्थः--जिन धातुओं से जिस विशेषण द्वारा आत्मनेपद का विधान किया है, उनसे [शेषात्] जो शेष बची धातुयें, उनसे [कर्त्तरि] कर्तृवाच्य में [परस्मैपदम्] परस्मैपद होता है ॥ उदा० –याति (जाता है) । वाति (चलता है) । प्रविशति (प्रविष्ट होता है) ॥

यहां से 'परस्मैपदम्' की अनुवृत्ति पाद के अन्त १।३।६३ तक जाती है ॥

अनुपराभ्यां कृञः ॥१।३।७६॥

अनुपराभ्यां ५।२॥ कृञः ५।१॥ स०—अनुपराभ्यामित्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—अनु परा इत्येवंपूर्वात् कृञ् धातोः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—अनुकरोति । पराकरोति ॥

भाषार्थः—[अनुपराभ्यां] अनु परा पूर्वक [कृञः] कृञ्-धातु से परस्मैपद होता है ॥ उदा०—अनुकरोति (अनुकरण करता है) । पराकरोति (दूर करता है) ॥ गन्धन आदि अर्थों में, तथा स्वरितञितः० से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में जो आत्मनेपद प्राप्त था, उसका अपवाद यह सूत्र है ॥

अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः ॥१।३।८०॥

अभिप्रत्यतिभ्यः ५।३॥ क्षिपः ५।१॥ स०—अभि० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—अभि प्रति अति इत्येवं पूर्वात् क्षिप्-धातोः परस्मैपद भवति ॥ उदा०—अभिक्षिपति । प्रतिक्षिपति । अतिक्षिपति ॥

भाषार्थः—[अभिप्रत्यतिभ्यः] अभि प्रति तथा अति पूर्वक [क्षिपः] क्षिप्-धातु से परस्मैपद होता है ॥ क्षिप् धातु के स्वरितेत् होने से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल में आत्मनेपद प्राप्त था, यहां परस्मैपद का विधान कर दिया है ॥ उदा०—अभिक्षिपति (इधर-उधर फेंकता है) । प्रतिक्षिपति (बदले में फेंकता है) । अतिक्षिपति (बहुत फेंकता है) ॥

प्राद्वहः ॥१।३।८१॥

प्रात् ५।१॥ वहः ५।१॥ अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—प्रपूर्वाद् वह्-धातोः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—प्रवहति, प्रवहतः, प्रवहन्ति ॥

भाषार्थः—[प्रात्] प्रपूर्वक [वहः] वह् धातु से परस्मैपद होता है ॥

उदा०—प्रवहति (बहता है), प्रवहतः, प्रवहन्ति ॥ यहां भी स्वरितेत् होने से पूर्ववत् आत्मनेपद प्राप्त था, परस्मैपद कह दिया ॥

परेर्मृषः ॥१।३।८२॥

परेः ५।१॥ मृषः ५।१॥ अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—'परि' इत्येवं पूर्वात् मृष्-धातोः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०— परिमृष्यति, परिमृष्यतः, परिमृष्यन्ति ॥

भाषार्थः—[परेः] परिपूर्वक [मृषः] मृष् धातु से परस्मैपद होता है ॥ उदा०—परिमृष्यति (सब प्रकार से सहन करता है), परिमृष्यतः, परिमृष्यन्ति ॥ यह भी स्वरितेत् धातु था, सो नित्य परस्मैपद का विधान कर दिया ॥ दिवादिगण का होने से दिवादिभ्यः श्यन् (३।१।६९) से शप् का अपवाद श्यन् हो जाता है ॥

व्याङ्परिभ्यो रमः ॥१।३।८३॥

व्याङ्परिभ्यः ५।३॥ रमः ५।१॥ स०—व्याङ्परि० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—वि आङ् परि इत्येवं पूर्वाद् रम्-धातोः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—विरमति । आरमति । परिरमति ॥

भाषार्थः—[व्याङ्परिभ्यः] वि आङ् परि पूर्वक [रमः] रम् धातु से परस्मैपद होता है ॥ उदा०—विरमति (रुकता है) । आरमति (खेलता है)। परिरमति (चारों ओर खेलता है) ॥ अनुदात्तेत् होने से अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१।३।१२) से आत्मनेपद प्राप्त था, परस्मैपद कर दिया ॥

यहां से 'रमः' की अनुवृत्ति १।३।८५ तक जायेगी ॥

उपाच्च ॥१।३।८४॥

उपात् ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—रमः, परस्मैपदम् ॥ अर्थः—उप पूर्वाच्च रम्-धातोः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—देवदत्तम् उपरमति ॥

भाषार्थः—[उपात्] उपपूर्वक रम् धातु से [च] भी परस्मैपद होता है ॥ उदा०—देवदत्तम् उपरमति (देवदत्त को हटाता है ॥

यहां से 'उपात्' की अनुवृत्ति १।३।८५ तक जाती है ॥

विभाषाऽकर्मकात् ॥१।३।८५॥

विभाषा १।१॥ अकर्मकात् ५।१॥ अनु०—उपात्, रमः, परस्मैपदम्॥ अर्थः—अकर्मकादुपपूर्वाद् रम्-धातोर्विभाषा परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—यावद्भुक्तमुपरमति यावद्भुक्तमुपरमते ॥

भाषार्थः—[अकर्मकात्] अकर्मक उपपूर्वक रम् धातु से [विभाषा] विकल्प करके परस्मैपद होता है ॥ उदा०—यावद्भुक्तमुपरमति, यावद्भुक्तमुपरमते (प्रत्येक भोजन से निवृत्त होता है) ॥ पूर्व सूत्र से नित्य परस्मैपद प्राप्त था, यहां विकल्प कर दिया ॥

बुधयुधनशजनेङ्प्रुद्रुस्रुभ्यो णेः ॥१।३।८६॥

बुधयुध······भ्यः ५।३॥ णेः ५।१॥ स०—बुधयुध० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—परस्मैपदम् ॥ अर्थः—बुध, युध, नश, जन, इङ्, प्रु, द्रु, स्रु इत्येतेभ्यो ण्यन्तेभ्यो धातुभ्यः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—बोधयति । योधयति । नाशयति । जनयति । अध्यापयति । प्रावयति । द्रावयति । स्रावयति ॥

भाषार्थः—[बुध ·· भ्यः] बुध् युध् नश् जन् इङ् प्रु द्रु स्रु इन [णेः] ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद होता है ॥ उदा०—बोधयति (बोध कराता है) । योधयति (लड़ाता है) । नाशयति (नाश करता है)। जनयति (उत्पन्न करता है) । अध्यापयति (पढ़ाता है) । प्रावयति (प्राप्त कराता है) । द्रावयति (पिघलाता है) । स्रावयति (टपकाता है) ॥ यहाँ ण्यन्त होने से कर्त्रभिप्राय क्रियाफल अर्थ में णिचश्च (१।३।७४) से आत्मनेपद प्राप्त था, परस्मैपद विधान कर दिया ॥ सिद्धियों में कुछ भी विशेष नहीं है। केवल जनयति में उपधा वृद्धि होकर जनीजृष० (धातुसूत्र) से मित् संज्ञा, तथा मितां ह्रस्वः (६।४।९२) से उपधा ह्रस्वत्व हुआ है । अध्यापयति में अधिपूर्वक इङ् धातु से णिच् आकर, तथा 'इ' को ऐ वृद्धि होकर क्रीङ्जीनां णौ (६।१।४७) से 'ऐ' को आत्व हुआ है, एवं अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयी० (७।३।३६) से पुक् आगम हुआ है, शेष पूर्ववत् है ॥

यहाँ से 'णेः' की अनुवृत्ति १।३।८९ तक जाती है ॥

निगरणचलनार्थेभ्यश्च ॥१।३।८७॥

निगरणचलनार्थेभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ स०—निगरणञ्च चलनञ्च इति निगरणचलने, निगरणचलने अर्थौ येषाम् ते निगरणचलनार्थाः, तेभ्यः······ द्वन्द्वगर्भ-बहुव्रीहिः ॥ अनु०—णेः,परस्मैपदम् ॥ अर्थः—निगरणार्थेभ्यः चलनार्थेभ्यश्च ण्यन्तेभ्यो धातुभ्यः परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—निगारयति । आशयति । भोजयति ॥ चलनार्थेभ्यः—चलयति । चोपयति । कम्पयति ॥

भाषार्थः—[निगरण...भ्यः] निगरण अर्थात् निगलने अर्थवाले, तथा चलनार्थक ण्यन्त जो धातु हैं, उनसे [च] भी परस्मैपद होता है ॥ उदा०—निगारयति (निगलवाता है) । आशयति (खिलाता है) । भोजयति (भोजन कराता है) । चलनार्थेभ्यः—चलयति (चलाता है)। चोपयति (धीरे धीरे चलाता है)। कम्पयति (कँपाता है)॥

चलयति में घटादयो मितः (धातुपाठ अज० सं० पृ० १२) से मित् संज्ञा, तथा मितां ह्रस्वः (६।४।९२) से ह्रस्व होता है, शेष पूर्ववत् समझें।

अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात् ॥१।३।८८॥

अणौ ७।१॥ अकर्मकात् ५।१॥ चित्तवत्कर्तृकात् ५।१॥ स०—अणौ इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः। न विद्यते कर्म यस्य स अकर्मकः, तस्माद्, बहुव्रीहिः। चित्तवान् कर्त्ता यस्य स चित्तवत्कर्तृकः, तस्माद्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—णेः, परस्मैपदम् ॥ अर्थः—अण्यन्तावस्थायां यो धातुरकर्मकः चित्तवत्कर्तृकश्च तस्माद् ण्यन्तात् परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—अण्यन्ते—आस्ते देवदत्तः। ण्यन्ते—आसयति देवदत्तम्। शाययति देवदत्तम् ॥

भाषार्थः—[अणौ] अण्यन्त अवस्था में जो [अकर्मकात्] अकर्मक, तथा [चित्तवत्कर्तृकात्] चेतन कर्त्तावाला धातु हो, उससे ण्यन्त अवस्था में परस्मैपद होता है ॥ उदा०—अण्यन्त में—आस्ते देवदत्तः (देवदत्त बैठता है)। ण्यन्त में—आसयति देवदत्तम् (देवदत्त को बिठाता है)। शाययति देवदत्तम् (देवदत्त को सुलाता है) ॥ यहां पर आस् तथा शीङ् धातु अकर्मक हैं, एवं उनका चेतन कर्ता देवदत्त है। सो ण्यन्त अवस्था में इनसे परस्मैपद हो गया ॥ यह णिचश्च (१।३।७४) का अपवाद सूत्र है ॥

न पादम्याङ्यमाङ्यसपरिमुहरुचिनृतिवदवसः ॥१।३।८९॥

न अ० ॥ पादम्याङ्य ··· वसः ५।१॥ स०—पाश्च दमिश्च आङ्यमश्च आङ्यसश्च परिमुहश्च रुचिश्च नृतिश्च वदश्च वश्च इति पाद···—वदवः, तस्मात्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—णेः, परस्मैपदम् ॥ अर्थः—पा, दमि, आङ्यम, आङ्यस, परिमुह, रुचि, नृति, वद, वस इत्येतेभ्यो ण्यन्तेभ्यो धातुभ्यः परस्मैपदं न भवति ॥ पूर्वेण सूत्रद्वयेन ण्यन्तेभ्यः परस्मैपदं विहितं, तत् प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—पाययते। दमयते। आयामयते। आयासयते। परिमोहयते। रोचयते। नर्त्तयते। वादयते। वासयते ॥

भाषार्थः—पूर्व दो सूत्रों में ण्यन्तों से परस्मैपद का विधान किया है, उसका यह प्रतिषेध सूत्र है। [पाद ··· वसः] पा, दमि, आङ्पूर्वक यम, आङ्पूर्वक यस, परिपूर्वक मुह, रुचि, नृति, वद, वस इन ण्यन्त धातुओं से परस्मैपद [न] नहीं होता है ॥ उदा०—पाययते (पिलाता है)। दमयते (दमन कराता है)। आयामयते,

आयासयते (फिकवाता है)। परिमोहयते (अच्छी प्रकार मोहित कराता है)। रोचयते पसन्द कराता है)। नर्त्तयते (नचाता है)। वादयते (कहलाता है)। वासयते (बसाता है)॥ पाययते में शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् (७।३।३७) से युक् आगम होता है। दमयते में पूर्ववत् मित्संज्ञा होने से उपधा-ह्रस्वत्व है। आयामयते में 'यमोऽपरिवेषणे (धातुसूत्र) से मित्संज्ञा का प्रतिषेध होता है॥

वा क्यषः ॥१।३।९०॥

वा अ०॥ क्यषः ५।१॥ अनु०—परस्मैपदम्॥ अर्थः—क्यषन्ताद् धातोर्वा परस्मैपदं भवति॥ उदा०—लोहितायति, लोहितायते। पटपटायति। पटपटायते॥

भाषार्थः—[क्यषः] क्यष्प्रत्ययान्त धातु से [वा] विकल्प करके परस्मैपद होता है॥

यहां से 'वा' की अनुवृत्ति १।३।९३ तक जायेगी।

द्युद्भ्यो लुङि ॥१।३।९१॥

द्युद्भ्यः ५।३॥ लुङि ७।१॥ अनु०—वा, परस्मैपदम्॥ अर्थः—'द्युत 'दीप्तौ' इत्यारभ्य कृपूपर्यन्तेभ्यो धातुभ्यो लुङि वा परस्मैपदं भवति॥ उदा०—व्यद्युतत्, व्यद्योतिष्ट। अलुठत्, अलोठिष्ट॥

भाषार्थः—[द्युद्भ्यः] द्युतादि धातुओं से [लुङि] लुङ् को विकल्प करके परस्मैपद होता है॥ द्युद्भ्यः में बहुवचन-निर्देश करने से द्युतादि धातुओं का (द्युत से लेकर कृपू धातु पर्यन्त का) ग्रहण हो जाता है॥

वृद्भ्यः स्यसनोः ॥१।३।९२॥

वृद्भ्यः ५।३॥ स्यसनोः ७।२॥ स०—स्यसनोरित्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—वा, परस्मैपदम्॥ अर्थः—वृतादिभ्यो धातुभ्यः स्यसनोः वा परस्मैपदं भवति॥ उदा०—वर्त्स्यति। अवर्त्स्यत्। सन्—विवृत्सति। आत्मनेपदे—वर्त्तिष्यते, अवर्तिष्यत। सन्—विवर्त्तिषते॥

भाषार्थः—[वृद्भ्यः] वृतादि धातुओं से [स्यसनोः] स्य और सन् प्रत्ययों के होने पर विकल्प करके परस्मैपद होता है॥ द्युतादियों के अन्तर्गत ही वृतादि धातुएं भी हैं॥ यहां भी बहुवचन-निर्देश करने से वृत से वृतादियों का ग्रहण किया गया है॥

यहां से 'स्यसनोः' की अनुवृत्ति १।३।९३ तक जायेगी॥

लुटि च क्लृपः ॥१।३।९३॥

लुटि ७।१॥ च अ० ॥ क्लृपः ५।१॥ अनु०—स्यसनोः, वा, परस्मैपदम् ॥
अर्थः—कृपूधातोर्लुटि च स्यसनोश्च वा परस्मैपदं भवति ॥ उदा०—कल्प्ता, कल्प्तारौ, कल्प्तारः। कल्प्स्यति, अकल्प्स्यत्। चिक्लृप्सति। आत्मनेपदे—कल्पिता। कल्पिष्यते, अकल्पिष्यत। चिकल्पिषते ॥

भाषार्थः—[क्लृपः] क्लृप (=कृपू) धातु से [लुटि] लुट् को, [च] चकार से स्य सन् होने पर भी विकल्प करके परस्मैपद होता है ॥ उदा०—कल्प्ता, कल्प्तारौ, कल्प्तारः (वह कल समर्थ होगा)। कल्प्स्यति (वह समर्थ होगा), अकल्प्स्यत् (वह समर्थ होता)। चिक्लृप्सति (वह समर्थ होना चाहता है)। पक्ष में—कल्पिता, कल्पिष्यते, अकल्पिष्यत, चिकल्पिषते ॥ सिद्धियां सारी पूर्ववत् ही हैं। केवल परस्मैपद पक्ष में सर्वत्र तासि च क्लृपः (७।२।६०) से इट् आगम निषेध होता है। तथा आत्मनेपद पक्ष में इट् आगम होता है। कृपो रो लः (८।२।१८) से सर्वत्र धातुस्थ ऋकार के रेफ अंश को लत्व भी होता है। लुट् लकार में सिद्धि परि० १।१।६ में कर आये हैं, उसी प्रकार यहां भी जानें ॥

॥ इति तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

आ कडारादेका संज्ञा ॥१।४।१॥

आ अ० ॥ कडारात् ५।१॥ एका १।१॥ संज्ञा १।१॥ **अर्थः—कडाराः कर्मधारये** (२।२।३८) इति सूत्रं वक्ष्यति । आ एतस्मात् सूत्रावधेः एका संज्ञा भवतीति अधिकारो वेदितव्यः ॥ **उदा०**—भेत्ता, छेत्ता । शिक्षा, भिक्षा । अततक्षत् ॥

भाषार्थः—[कडारात्] 'कडाराः कर्मधारये' (२।२।३८) **सूत्र [आ] तक [एका] एक [संज्ञा] संज्ञा होती है, यह अधिकार जानना चाहिये ॥**

लोक तथा शास्त्र दोनों में एक पदार्थ की कई संज्ञाएं हो जाती हैं, ऐसा देखा जाता है । यथा इन्द्र के शक्र पुरुहूत आदि कई नाम हैं । शास्त्र में भी 'कर्त्तव्यम्' में तव्यत् की प्रत्यय, कृत्, कृत्य कई संज्ञायें होती हैं । सो इस प्रकरण में भी इसी प्रकार प्राप्त था । अतः कडाराः कर्मधारये (२।२।३८) तक जो संज्ञासूत्र हैं, उनमें से इस अधिकार से एक संज्ञा हो कई नहीं, यह नियम किया है ॥ अब जहां पर दो संज्ञायें प्राप्त हों, वहां कौनसी हो कौनसी न हो, यह प्रश्न था । तो जो उनमें से पर हो या अनवकाश हो, उसे होना चाहिये, दोनों को नहीं ॥

विप्रतिषेधे परं कार्यम् ॥१।४।२॥

विप्रतिषेधे ७।१॥ परम् १।१॥ कार्यम् १।१॥ **अर्थः**—विप्रतिषेधः=तुल्यबल-विरोधः, तस्मिन् सति परं कार्यं भवति ॥ **उदा०**—वृक्षेभ्यः, प्लक्षेभ्यः ॥

भाषार्थः—[विप्रतिषेधे] **विप्रतिषेध होने पर** [परम्] **परवाला सूत्र** [कार्यम्] **कार्य करता है ॥ यह परिभाषासूत्र है ॥**

तुल्यबलविरोध को 'विप्रतिषेध' कहते हैं, अर्थात् जहां दो सूत्र कहीं अन्यत्र उदाहरणों में पृथक्-पृथक् लग चुके हों, पर किसी एक स्थल में दोनों ही प्राप्त हो रहे हों, तो कौनसा हो ? दोनों कहेंगे कि "मैं लगूंगा, मैं लगूंगा"। तब यह परिभाषासूत्र निर्णय करेगा कि परवाला ही हो, पूर्ववाला नहीं ॥ जैसे—'वृक्ष भ्याम्', यहां पर सुपि च (७।३।१०२) सूत्र दीर्घ करता है, सो वृक्षाभ्याम् बनता है । तथा 'वृक्ष सुप्' यहां बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३) **से बहुवचन झलादि सुप् परे रहते एत्व होकर वृक्षेषु बनता है । अब यह** सुपि च, **तथा** बहुवचने झल्येत् **पृथक्-पृथक् स्थलों में चरितार्थ हैं । पर 'वृक्ष भ्यस्' इस अवस्था में यञादि सुप् परे होने से** सुपि च **से दीर्घ भी प्राप्त है, तथा 'भ्यस्' बहुवचन झलादि सुप् है, सो** बहुवचने झल्येत् **से एत्व भी**

प्राप्त है, सो कौन हो ? तब यहां तुल्यबलविरोध होने से प्रकृत सूत्र से परवाला सूत्र ही लगा । सुपि च की अपेक्षा से बहुवचने झल्येत् अष्टाध्यायी में पर है । अतः बहुवचने झल्येत् से एत्व होकर— वृक्षेभ्यः, प्लक्षेभ्यः बन गया ।। भ्यस् के सकार को पूर्ववत् रुत्व विसर्जनीय हो ही जायेगा ।।

[संज्ञा-प्रकरणम्]

यू स्त्र्याख्यौ नदी ।।१।४।३।।

यू सुपां सुलुक्० (७।१।३९) इत्यनेन विभक्तिलुंप्यतेऽत्र ।। स्त्र्याख्यौ १।२।। नदी १।१।। स०— ई च ऊ च यू, इतरेतरयोगद्वन्द्वः, इको यणचि (६।१।७४) इत्यनेन यणादेशः । स्त्रियमाचक्षाते स्त्र्याख्यौ, उपपदमतिङ् (२।२।१९) इत्यनेन तत्पुरुष-समासः ।। अर्थः—ईकारान्तमूकारान्तञ्च स्त्र्याख्यं शब्दरूपं नदीसंज्ञकं भवति ।। उदा० —कुमार्यै, गौर्यै, शार्ङ्गरव्यै । ऊकारान्तम्—ब्रह्मबन्ध्वै, यवाग्वै ।।

भाषार्थः—[यू] ईकारान्त तथा ऊकारान्त जो [स्त्र्याख्यौ] स्त्रीलिङ्ग की आख्या (कहनेवाले) शब्द हैं, उनकी [नदी] नदी संज्ञा होती है ।।

यहां से 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' की अनुवृत्ति १।४।६ तक जायेगी ।।

नेयङुवङ्स्थानावस्त्री ।।१।४।४।।

न अ० ।। इयङुवङ्स्थानौ १।२।। अस्त्री १।१।। स०— इयङ् च उवङ् च इयङुवङौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः । इयङुवङोः स्थानम् अनयोरिति इयङुवङ्स्थानौ, बहुव्रीहिः । न स्त्री अस्त्री, नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०— यू स्त्र्याख्यौ नदी ।। अर्थः—इयङुवङ्स्थानौ ईकारान्त-ऊकारान्तौ शब्दौ स्त्र्याख्यौ नदीसंज्ञकौ न भवतः, स्त्री शब्दं वर्जयित्वा ।। उदा०—हे श्रीः । हे भ्रूः ।।

भाषार्थः—[इयङुवङ्स्थानौ] इयङ् उवङ् आदेश होता है जिन ईकारान्त ऊकारान्त स्त्री की आख्यावाले शब्दों को, उनकी नदी-संज्ञा [न] नहीं होती, [अस्त्री] स्त्री शब्द को छोड़कर ।। यह सूत्र पूर्वसूत्र का प्रतिषेध है ।। स्त्री शब्द इयङ् स्थानी था, सो इस सूत्र से नदी संज्ञा का प्रतिषेध उसको भी प्राप्त था । 'अस्त्री' कहने से उसकी नदी संज्ञा हो गई ।।

यहां से 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' की अनुवृत्ति १।४।६ तक जायेगी ।।

वामि ।।१।४।५।।

वा अ० ।। आमि ७।१।। अनु०—नेयङुवङ्स्थानावस्त्री, यू स्त्र्याख्यौ नदी ।।

अर्थः-इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ ईकारान्तोकारान्तौ शब्दौ आमि परतो वा नदीसंज्ञकौ न भवतः, स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा ॥ पूर्वेण नित्यप्रतिषेधे प्राप्ते आमि विकल्प्यते ॥**उदा०**—श्रियाम्, श्रीणाम् । भ्रुवाम्, भ्रूणाम् ॥

भाषार्थः—इयङ्-उवङ् स्थानी, स्त्री की आख्यावाले जो ईकारान्त ऊकारान्त शब्द, उनकी [आमि] आम् परे रहते [वा] विकल्प से नदीसंज्ञा नहीं होती है, स्त्री शब्द को छोड़कर ॥ पूर्वसूत्र से नित्य प्रतिषेध प्राप्त था, इस सूत्र ने आम् परे रहते विकल्प कर दिया ॥ उदा०—श्रियाम् (श्रियों का), श्रीणाम् । भ्रुवाम् (भौहों का), भ्रूणाम् ॥

जब नदी संज्ञा नहीं, हुई तब श्री+आम् पूर्ववत होकर अचि श्नुधातु० (७।४।७७) से इयङ् होकर 'श्र् इयङ् आम्'=श्रियाम बना । भ्रू+आम्, यहाँ भी पूर्ववत् उवङ् होकर भ्रुवाम् बन गया ॥ जब नदी संज्ञा हो गई, तब ह्रस्वनद्यापो नुट् (७ १।५४) से नुट् आगम होकर 'श्री नुट् आम्', 'भ्रू नुट् आम्' बनकर, अनुबन्ध लोप होकर, तथा न् को ण् अट्कुप्वाङ् ० (८।४।२) से होकर—श्रीणाम् भ्रूणाम् बन गया ॥

यहां से 'वा' की अनुवृत्ति १।४।६ तक जाती है ॥

ङिति ह्रस्वश्च ॥१।४।६॥

नदी-विकल्प

ङिति ७।१।। ह्रस्वः १।१।। च अ० ॥ अनु०—वा, नेयङुवङ्स्थानावस्त्री, यू स्त्र्याख्यौ नदी ॥ **अर्थः**—ह्रस्वेकारान्तं ह्रस्वोकारान्तं च स्त्र्याख्यं शब्दरूपम्, इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ ईकारान्तोकारान्तौ च शब्दौ ङिति प्रत्यये परतो वा नदीसंज्ञकौ भवतः ॥ उदा०—कृत्यै, कृतये । धेन्वै, धेनवे । श्रियै, श्रिये । भ्रुवै, भ्रुवे ॥

भाषार्थः—[ह्रस्वः] ह्रस्व इकारान्त उकारान्त जो स्त्रीलिङ्ग के वाचक शब्द, तथा इयङ् उवङ् स्थानी जो ईकारान्त ऊकारान्त स्त्री की आख्यावाले शब्द, उनकी [च] भी [ङिति] ङित् प्रत्यय के परे रहते विकल्प से नदी संज्ञा होती है॥ ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्दों की नदी संज्ञा किसी सूत्र से प्राप्त नहीं थी, सो ङित् प्रत्यय के परे रहते विकल्प से विधान कर दिया । तथा इयङ् उवङ् स्थानी ईकारान्त-ऊकार शब्दों की भी नित्य नदी संज्ञा का प्रतिषेध किया था, सो उनकी भी विकल्प स नदी संज्ञा का विधान इस सूत्र में करते हैं ॥

यहाँ से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति १।४।७ तक जायेगी ॥

घि

शेषो घ्यसखि ॥१।४।७॥

शेषः १।१।। घि १।१।। असखि १।१।। स०—असखीत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥

अनु०—ह्रस्वः ॥ अर्थः—शेषो घि-संज्ञको भवति सखि शब्दं वर्जयित्वा॥ कश्च शेष:? ह्रस्वेवर्णो वर्णान्तं शब्दरूपं यन्न स्त्र्याख्यं, यच्च स्त्र्याख्यमपि न नदीसंज्ञकं स शेषः ॥ उदा०—अग्नये, वायवे । कृतये, धेनवे ॥

भाषार्थः—[शेषः] शेष की [घि] घि संज्ञा होती है [असखि] सखि शब्द को छोड़कर ॥ प्रश्न होता है कि शेष किन को कहा जाय ? सो कहते हैं कि जो ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग के वाचक नहीं हैं (स्त्री की आख्यावालों की तो नदी संज्ञा ङिति ह्रस्वश्च ने कह ही दी थी), तथा जो स्त्री के आख्यावाले होते हुये भी नदीसंज्ञक नहीं हैं, वे शेष हैं ॥ अग्नि वायु शब्द ह्रस्व इकार उकार अन्तवाले तो हैं, पर स्त्री की आख्यावाले नहीं हैं, सो शेष होने से उनकी घि संज्ञा हुई । अग्नये वायवे की सिद्धि परि० १।४।६ के कृतये धेनवे के समान समझें ॥ कृति धेनु शब्दों की भी ङिति ह्रस्वश्च (१।४।६) से पक्ष में नदी संज्ञा नहीं होती, अतः ये भी शेष हैं । सो घिसंज्ञक होकर पूर्ववत् सिद्धि समझें ॥

यहां से 'घि' की अनुवृत्ति १।४।६ तक जायेगी ॥

पतिः समास एव ॥१।४।८॥

पतिः १।१॥ समासे ७।१॥ एव अ० ॥ अनु०—घि ॥ अर्थः—पतिशब्दस्य शेषत्वात् पूर्वेण सूत्रेण सर्वत्र घि संज्ञा सिद्धैव, अत्र नियमः क्रियते । समासे एव पतिशब्दस्य घि संज्ञा स्यात्, नान्यत्र ॥ उदा०—प्रजापतिना, प्रजापतये । सेनापतिना, सेनापतये ॥

भाषार्थः—शेष होने से पूर्वसूत्र से पतिशब्द की घिसंज्ञा सर्वत्र सिद्ध ही थी, यहां नियम करते हैं कि—[पतिः] पति शब्द की [समासे] समास में [एव] ही घि संज्ञा हो, समास से अन्यत्र घि संज्ञा न हो ॥

प्रजायाः पति, सेनायाः पतिः, यहां षष्ठीतत्पुरुष समास होकर प्रजापति सेनापति बना था । सो पूर्ववत् टा विभक्ति आकर समास में होने से घि संज्ञा होकर, आङो नाऽस्त्रियाम् (७।३।११९) से 'टा' को 'ना' होकर—प्रजापतिना (प्रजापति के द्वारा), सेनापतिना (सेनापति के द्वारा) बन गया । प्रजापतये आदि भी ङे विभक्ति में पूर्ववत् ही बन जायेंगे ॥

यहां से 'पतिः' की अनुवृत्ति १।४।९ तक जायेगी ॥

षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा ॥१।४।९॥

षष्ठीयुक्तः १।१॥ छन्दसि ७।१॥ वा अ० ॥ स०—षष्ठ्या युक्तः षष्ठीयुक्तः, तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—पतिः, घि ॥ अर्थः—पूर्वेण सूत्रेणासमासे घि संज्ञा न

प्राप्नोतीति वचनमारभ्यते । षष्ठ्यन्तेन शब्देन युक्तः पतिशब्दः छन्दसि=वेदे विकल्पेन घिसंज्ञको भवति ।। उदा०—कुलुञ्चानां पतये नमः, कुलुञ्चानां पत्ये नमः (यजु० १६।२२)।।

भाषार्थः—[षष्ठीयुक्तः]षष्ठयन्त शब्द से युक्त जो पतिशब्द उसकी[छन्दसि] छन्दविषय में [वा] विकल्प से घिसंज्ञा होती है ।। पूर्वसूत्र से असमास में पति शब्द की घिसंज्ञा प्राप्त नहीं थी, सो पक्ष में विधान कर दिया ।।

घि-संज्ञा पक्ष में घेर्ङिति (७।३।१११)से गुण,तथा अयादेश होकर पतये बना । अन्यत्र 'पति+ए' इस अवस्था में यणादेश होकर—'पत्ये' बन गया । कुलुञ्चाना षष्ठ्यन्त शब्द है, उससे युक्त यहां पति शब्द है ।।

उदा०-कुलुञ्चानां पतये नमः(बुरे स्वभाव से दूसरे के पदार्थों को खसोटनेवालों के पति=अधिपति को नमस्कार), स्वामी द० भा० । कुलुञ्चानां पत्ये नमः ।।

ह्रस्वं लघु ।।१।४।१०।।

ह्रस्वम् १।१।। लघु १।१।। अर्थः—ह्रस्वमक्षरं लघुसंज्ञकं स्यात् ।। उदा०—भत्ता । छेत्ता । अचीकरत् । अजीहरत् ।।

भाषार्थः—[ह्रस्वम्] ह्रस्व अक्षर की [लघु] लघु संज्ञा होती है ।।

यहां से 'ह्रस्वम्' की अनुवृत्ति १।४।११ तक जायेगी ।।

संयोगे गुरु ।।१।४।११।।

संयोगे ७।१।। गुरु १।१।। अनु०—ह्रस्वम् ।। अर्थः—संयोगे परतो ह्रस्वमक्षरं गुरुसंज्ञकं भवति ।। उदा०—कुण्डा । हुण्डा । शिक्षा । भिक्षा ।।

भाषार्थः—[संयोगे] संयोग परे रहते ह्रस्व अक्षर की [गुरु] गुरु संज्ञा होती है ।। पूर्वसूत्र से ह्रस्व अक्षर की लघु संज्ञा प्राप्त थी, यह उसका अपवाद है ।।

यहां से 'गुरु' की अनुवृत्ति १।४।१२ तक जायेगी ।।

दीर्घं च ।।१।४।१२।।

दीर्घम् १।१।। च अ०।। अनु०—गुरु ।। अर्थः—दीर्घं चाक्षरं गुरुसंज्ञकं भवति ।। उदा०—ईहाञ्चक्रे । ऊहाञ्चक्रे ।।

भाषार्थः—[दीर्घम्] दीर्घ अक्षर की [च] भी गुरु संज्ञा होती है ।।

उदा०—ईहाञ्चक्रे, ऊहाञ्चक्रे (उसने तर्क किया) ।। सिद्धियां परि० १।३।६३ के समान ही हैं ।।

यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् ॥१।४।१३॥

यस्मात् ५।१॥ प्रत्ययविधिः १।१॥ तदादि १।१॥ प्रत्यये ७।१॥ अङ्गम् १।१॥ **स०**—प्रत्ययस्य विधिः प्रत्ययविधिः, षष्ठीतत्पुरुषः । तस्य आदिः तदादिः, तदादिरादिर्यस्य तत् तदादि, बहुव्रीहिः ॥ **अर्थः**—यस्मात् (धातोर्वा प्रातिपदिकाद्वा) प्रत्ययविधिः = प्रत्ययो विधीयते, तदादिशब्दरूपस्य प्रत्यये परतोऽङ्गसंज्ञा भवति ॥ उदा०—कर्त्ता, हर्त्ता । औपगवः, कापटवः । करिष्यति, अकरिष्यत्, करिष्यावः, करिष्यामः ॥

भाषार्थः—[यस्मात्] **जिस (धातु या प्रातिपदिक) से** [प्रत्ययविधिः] **प्रत्यय का विधान किया जाये,** [प्रत्यये] **उस प्रत्यय के परे रहते** [तदादि] **उस (धातु या प्रातिपदिक) का आदि वर्ण है आदि जिसका, उस समुदाय की** [अङ्गम्] **अङ्ग संज्ञा होती है ॥**

सुप्तिङन्तं पदम् ॥१।४।१४॥

सुप्तिङन्तम् १।१॥ पदम् १।१॥ **स०**—सुप् च तिङ् च सुप्तिङौ, सुप्तिङौ अन्ते यस्य तत् सुप्तिङन्तम्, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ **अर्थः**—सुबन्तं तिङन्तं च शब्दरूपं पदसंज्ञं भवति ॥ सुप्-तिङ् इति प्रत्याहारग्रहणम् ॥ उदा०—ब्राह्मणाः पठन्ति ॥

भाषार्थः—[सुप्तिङन्तम्] **सुप् अन्तवाले, तथा तिङ् अन्तवाले शब्दों की** [पदम्] **पद संज्ञा होती है ॥ सुप् से** स्वौजस० (४।१।२) **के सु से लेकर सुप् के पकार पर्यन्त २१ प्रत्ययों का ग्रहण है । तथा तिङ् से** तिप्तस्झि० (३।४।७८) **के तिप् से लेकर महिङ् के ङकार पर्यन्त १८ प्रत्ययों का ग्रहण है ॥**

उदा०—**ब्राह्मणाः** पठन्ति **(ब्राह्मण पढ़ते हैं) । यहां पद संज्ञा होने से जस् के सकार को** पदस्य (८।१।१६) **के अधिकार में वर्त्तमान** ससजुषो रुः (८।२।६६) **से रुत्व, और** खरवसान० (८।३।१५) **से विसर्जनीय होता है । 'पठन्ति' के तिङ् अन्त-वाला होने से पद संज्ञा होकर** पदस्य (८।१।१६) **और** पदात् (८।१।१७) **के अधिकार में वर्त्तमान** (तिङ्ङतिङः (८।१।२८) **से अतिङ् पद से उत्तर तिङ् पद** पठन्ति **को सर्वानुदात्त हो गया ॥**

यहां से 'पदम्' की अनुवृत्ति १।४।१७ तक जायेगी ॥

नः क्ये ॥१।४।१५॥

नः १।१॥ क्ये ७।१॥ अनु०—पदम् ॥ अर्थः—क्ये परतो नान्तं शब्दरूपं पद-

संज्ञं भवति ॥ उदा०—क्यच्—राजीयति । क्यङ्—राजायते । क्यष्—चर्मायति, चर्मायते ॥

भाषार्थः—क्य से क्यच् क्यङ् क्यष् तीनों का सामान्य ग्रहण किया है। [नः] नकारान्त शब्द की [क्ये] क्यच् क्यङ् क्यष् परे रहते पद संज्ञा होती है ॥ पूर्वसूत्र से ही पद संज्ञा सिद्ध थी, सो पुनः विधान नियमार्थ है कि क्य के परे नान्त शब्दों की ही पद संज्ञा हो, अन्यों की नहीं ॥

पद

सिति च ॥१।४।१६॥

सिति ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—पदम् ॥ स०—सकार इत् यस्य स सित्, तस्मिन् सिति, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—सिति प्रत्यये परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति ॥ उदा०—भवदीयः । ऊर्णायुः ॥

भाषार्थः—[सिति] सित् प्रत्यय के परे रहते [च] भी पूर्व की पदसंज्ञा होती है ॥ यह यचि भम् (१।४।१८) का अपवादसूत्र है ॥

पद

स्वादिष्वसर्वनामस्थाने ॥१।४।१७॥

स्वादिषु ७।३॥ असर्वनामस्थाने ७।१॥ स०—सु आदिर्येषां ते स्वादयः, तेषु बहुव्रीहिः । असर्वनामस्थाने इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—पदम् ॥ अर्थः—सर्वनाम-स्थानभिन्नेषु स्वादिषु प्रत्ययेषु परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति ॥ उदा०—राजभ्याम्, राजभिः, राजत्वम्, राजता, राजतरः, राजतमः । वाग्भिः ॥

भाषार्थः—[असर्वनामस्थाने] सर्वनामस्थान-भिन्न अर्थात् सु, औ, जस्, अम्, औट् से भिन्न [स्वादिषु] स्वादियों के परे रहते पूर्व की पद संज्ञा होती है ॥ स्वादियों में स्वौजस० (४।१।२) से लेकर उरः प्रभृतिभ्यः कप् (५।४।१५१) तक के प्रत्यय लिये गये हैं ॥

यहां से 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सूत्र की अनुवृत्ति १।४।१८ तक जायेगी ॥

+ शस्, टा ... सुप् यचि भम् ॥१।४।१८॥ भ

भ संज्ञा

यचि ७।१॥ भम् १।१॥ स०—य च अच् च यच्, तस्मिन् यचि, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—स्वादिष्वसर्वनामस्थाने ॥ अर्थः—सर्वनामस्थानभिन्ने स्वादौ यकारादौ अजादौ च प्रत्यये परतः पूर्वं भसंज्ञं भवति ॥ उदा०—गार्ग्यः, वात्स्यः । दाक्षिः, प्लाक्षिः ॥

भाषार्थः—[यचि] सर्वनामस्थान-भिन्न यकारादि अजादि स्वादियों के परे रहते पूर्व की [भम्] भ संज्ञा होती है ॥ पूर्व सूत्र से पद संज्ञा प्राप्त होने पर उसका यह अपवादसूत्र है ॥ गार्ग्यः वात्स्यः की सिद्धि १।२।६५ सूत्र पर देखें । भ संज्ञा

होने से सर्वत्र यस्येति च (६।४।१४८) से इवर्ण अवर्ण का लोप होता है ।। दक्षस्यापत्यं दाक्षि: (दक्ष का पुत्र), यहां भी अत इञ् (४।१।९५) इञ् प्रत्यय, तद्धितेष्वचामादे: (७।२।११७) से आदि अच् को वृद्धि, तथा भ संज्ञा होने से अकार लोप हो गया है । इसी प्रकार प्लाक्षि: (प्लक्ष का पुत्र) में भी समझें ।।

यहां से 'भम्' की अनुवृत्ति १।४।१९ तक जाती है ।।

तसौ मत्वर्थे ।।१।४।१९।।

तसौ १।२।। मत्वर्थे ७।१।। स०—तश्च सश्च तसौ, इतरेतरयोगद्वन्द्व: । मतोरर्थ: मत्वर्थ:, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुष: ।। अनु०—भम् ।। अर्थ:—तकारान्तं सकारान्तं च शब्दरूपं मत्वर्थे प्रत्यये परतो भसंज्ञकं भवति ।। उदा०—तकारान्तम्—विद्युत्वान् वलाहक: । उदश्वितवान् घोष: । सकारान्तम्—यशस्वी, पयस्वी, तपस्वी ।।

भाषार्थ:—[तसौ] तकारान्त और सकारान्त शब्दों की [मत्वर्थे] मत्वर्थ प्रत्ययों के परे रहते भ संज्ञा हो जाती है ।।

अयस्मयादीनिच्छन्दसि ।।१।४।२०।।

अयस्मयादीनि १।३।। छन्दसि ७।१।। स०—अयस्मयमादिर्येषां तानि इमानि अयस्मयादीनि, बहुव्रीहि: ।। अर्थ:—अयस्मयादीनि शब्दरूपाणि छन्दसि विषये साधूनि भवन्ति ।। उदा०—अयस्मयं वर्म । अयस्मयानि पात्राणि । स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन ।।

भाषार्थ:—[छन्दसि] वेद में [अयस्मयादीनि] अयस्मय इत्यादि शब्द साधु होते हैं, अर्थात् इसमें कहीं भ संज्ञा, तथा कहीं भ पद संज्ञा दोनों ही एक साथ देखने में आती हैं ।।

बहुषु बहुवचनम् ।।१।४।२१।।

बहुषु ७।३।। बहुवचनम् १।१।। अर्थ:—बहुत्वे विवक्षिते बहुवचनं भवति ।। उदा०—ब्राह्मणा: पठन्ति ।।

भाषार्थ:—[बहुषु] बहुतों को कहने की विवक्षा में [बहुवचनम्] बहुवचन का प्रत्यय होता है ।।

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने ।।१।४।२२।।

द्व्येकयो: ७।२।। द्विवचनैकवचने १।२।। स०—द्वौ च एकश्च द्व्येकौ, तयो:… इतरेतरयोगद्वन्द्व: । द्विवचनञ्चैकवचनं च द्विवचनैकवचने, इतरेतरयोगद्वन्द्व: ।। अर्थ:—द्वित्वे विवक्षिते द्विवचनमेकत्वे विवक्षिते एकवचनं च भवति ।। उदा०—ब्राह्मणौ पठत: । एकत्वे—ब्राह्मण: पठति ।।

भाषार्थः— [द्वयेकयोः] दो तथा एक के कहने की इच्छा में [द्विवचनैकवचने] द्विवचन का प्रत्यय तथा एकवचन का प्रत्यय क्रम से होते हैं। उदा०—ब्राह्मणौ पठतः (दो ब्राह्मण पढ़ते हैं)। ब्राह्मणः पठति (एक ब्राह्मण पढ़ता है)॥ यहां पर दो ब्राह्मणों को कहने में द्विवचन का 'औ', तथा एक को कहने में 'सु' आया है। इसी प्रकार पठ से 'तस् द्विवचन', तथा 'तिप् एकवचन' का प्रत्यय आया है॥ ब्राह्मण+औ, यहां वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि होकर ब्राह्मणौ हो गया॥

[कारक-प्रकरणम्]

कारके ॥१।४।२३॥

कारके ७।१॥ अर्थः—अधिकारसूत्रमिदम्। तत्प्रयोजको हेतुश्च (१।४।५५) इति यावद् यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः, कारके इत्येवं तद्वेदितव्यम्। यथा—ध्रुवमपायेऽपादानम् (१।४।२४), इत्यत्र कारक इत्यनुवर्त्तते॥ क्रियायाः निर्वर्त्तकं कारकम् क्रियायामिति वा (क्रियानिमित्ते सति) कारकम्, तच्च विवक्षाधीनमिति वेदितव्यम्॥

भाषार्थः—[कारके] यह अधिकारसूत्र है। यहां से आरम्भ करके तत्प्रयोजको० (१।४।५५) तक सूत्रों में 'कारके' पद उपस्थित होता है॥ क्रिया के बनानेवाले को, अथवा क्रिया के होने में जो निमित्त हो, उसे 'कारक' कहते हैं। वृक्ष से पत्ता गिरता है, यहाँ गिरना क्रिया बन नहीं सकती, जब तक कि वृक्ष न हो। अतः गिरना क्रिया को बनानेवाला, अथवा निमित्त होने से वृक्ष भी कारक है। अब कौन कारक हो, सो ध्रुवमपायेऽपादानम् (१।४।२४) से अपादान कारक हो गया॥ यहां यह बात और समझने की है कि कारक इच्छाधीन होते हैं। यथा —"बादल से बिजली चमकती है, बादल में बिजली चमकती है, बादल चमकता है", यहां बादल क्रमशः अपादान अधिकरण और कर्त्ता तीनों कारक है॥[1]

ध्रुवमपायेऽपादानम् ॥१।४।२४॥

अपादान

ध्रुवम् १।१॥ अपाये ७।१॥ अपादानम् १।१॥ अनु०—कारके॥ अर्थः—क्रियायां सत्याम् अपाये=विभागे यद् ध्रुवं तत् कारकमपादानसंज्ञकं भवति॥ उदा०—वृक्षात् पत्रं पतति। ग्रामाद् आगच्छति। पर्वताद् अवरोहति॥

भाषार्थः—क्रिया होने पर [अपाये] अपाय अर्थात् अलग होने पर जो [ध्रुवम्] ध्रुव=अचल रहे, उस कारक की [अपादानम्] अपादान संज्ञा होती है॥ वृक्षात्

१. 'कारक' के विषय में विशेष हमारी बनाई 'सरलतमविधि' पाठ १५-१६ तृतीय संस्करण में देखें॥

पत्रं पतति (वृक्ष से पत्ता गिरता है), इस उदाहरण में पत्र का वृक्ष से अलग होना पाया जाता है। अलग होने पर पत्र नीचे गिरता है,पर वृक्ष वैसे ही अचल खड़ा रहता है। सो अपाय होने पर भी वह ध्रुव है,अतः उसकी अपादान संज्ञा हो गई॥

विशेषः - यहां कारके=क्रिया होने पर का अभिप्राय यह है कि जब दो वस्तुएं पृथक्-पृथक् पड़ी हैं, सो वे ध्रुव भी हैं, तो यहां उनकी अपादान संज्ञा नहीं हो सकती, चाहे उनका अपाय=पृथकता है ही। क्योंकि यहां क्रिया नहीं हो रही, अतः 'क्रियायां सत्याम्' नहीं है। इसी प्रकार सर्वत्र कारक-प्रकरण में समझें॥ अपादान संज्ञा होने से विभक्ति-प्रकरण में वर्त्तमान अपादाने पञ्चमी (२।३।२८) सूत्र से पञ्चमी विभक्ति हो गई। सो 'ङसि' विभक्ति वृक्ष ग्राम आदि के आगे आई। टाङ-सिङसामि० (७।१।१२) से ङसि को आत् होकर वृक्षात् ग्रामात् आदि बन गये॥

यहां से "अपादानम्" की अनुवृत्ति १।४।३१ तक जायेगी॥

भीत्रार्थानां भयहेतुः ॥१।४।२५॥

भीत्रार्थानां ६।३॥ भयहेतुः १।१॥ स०—भीश्च त्राश्च भीत्रौ, भीत्रौ अर्थौ येषां ते भीत्रार्थाः, तेषां··· द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः। भयस्य हेतुः भयहेतुः, षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु० - अपादानम्, कारके॥ अर्थः—बिभेत्यर्थानां त्रायत्यर्थानां च धातूनां प्रयोगे भयस्य हेतुः यः तत् कारकम् अपादानसंज्ञं भवति॥ उदा०—बिभेत्यर्थानाम्—चौरेभ्यो बिभेति। चौरेभ्य उद्विजते। त्रायत्यर्थानां --चौरेभ्यस्त्रायते, चौरेभ्यो रक्षति॥

भाषार्थः [भीत्रार्थानाम्] भय अर्थवाली, तथा रक्षा अर्थवाली धातुओं के प्रयोग में जो [भयहेतुः] भय का हेतु, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है॥

उदा०—चौरेभ्यो बिभेति (चोरों से डरता है)। चौरेभ्य उद्विजते (चोरों से डरता है)। चौरेभ्यस्त्रायते (चोरों से रक्षा करता है)। चौरेभ्यो रक्षति (चोरों से रक्षा करता है)। अपादान संज्ञा होने से पूर्ववत् पञ्चमी विभक्ति होकर 'चौर+भ्यस्' हुआ। भ्यस् परे रहते बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३) से अदन्त अङ्ग को एत्व हो गया, शेष पूर्ववत् है॥

पराजेरसोढः ॥१।४।२६॥

पराजेः ६।१॥ असोढः १।१॥ स०—सोढुं शक्यते इति सोढः, न सोढः असोढः, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—अपादानम्, कारके॥ अर्थः—परा पूर्वस्य जयतेः धातोः प्रयोगेऽसोढो योऽर्थस्तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति॥ उदा०—अध्ययनात् पराजयते॥

भाषार्थः—[पराजेः] परापूर्वक जि धातु के प्रयोग में [असोढः] जो सहन नहीं

किया जा सकता, ऐसे कारक की अपादान संज्ञा होती है ॥

उदा०—अध्ययनात् पराजयते (पढ़ाई से भागता है, अर्थात् अध्ययन के श्रम को सहन नहीं कर सकता) ॥

अपादान

वारणार्थानामीप्सितः ॥१।४।२७॥

वारणार्थानाम् ६।३॥ ईप्सितः १।१॥ स०—वारणम् अर्थो येषां ते वारणार्थाः, तेषाम्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अपादानम्, कारके ॥ अर्थः—वाराणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितो योऽर्थस्तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—यवेभ्यो गां वारयति । यवेभ्यो गां निवर्त्तयति ॥

भाषार्थः—[वारणार्थानाम्] वारणार्थक अर्थात् रोकने अर्थवाली धातुओं के प्रयोग में [ईप्सितः] ईप्सित= 'इष्ट' जो पदार्थ उसकी अपादान संज्ञा होती है ॥

उदा० – यवेभ्यो गां वारयति (जौ के खेत से गाय को हटाता है)। यवेभ्यो गां निवर्त्तयति ॥ यहां यव ईप्सित हैं, अतः उनकी अपादान संज्ञा हो गई है ॥

अपादान

अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति ॥१।४।२८॥

अन्तर्द्धौ ७।१॥ येन ३।१॥ अदर्शनं १।१॥ इच्छति तिङन्तं पदम् ॥ स०—अदर्शनमित्यत्र, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अपादानम्, कारके ॥ अर्थः—अन्तर्द्धौ=व्यवधाननिमित्तं येनादर्शनम् आत्मन इच्छति, तत् कारकमपादानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—उपाध्यायाद् अन्तर्द्धत्ते । उपाध्यायाद् निलीयते ॥

भाषार्थ:—[अन्तर्द्धौ] व्यवधान के कारण [येन] जिससे अपना [अदर्शनम्] छिपना [इच्छति] चाहता हो, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है ।

उदा०—उपाध्यायात् अन्तर्द्धत्ते (उपाध्याय से छिपता है)। उपाध्यायाद् निलीयते (उपाध्याय से छिपता है) ॥ उदाहरणों में उपाध्याय से छिपना हो रहा है, सो उसकी अपादान संज्ञा होती है ॥

अपादान

आख्यातोपयोगे ॥१।४।२९॥

आख्याता १।१॥ उपयोगे ७।१॥ अनु०—अपादानम्, कारके ॥ अर्थः—आख्याता=प्रतिपादयिता, पाठयिता वा । उपयोगः=नियमपूर्वकं विद्याग्रहणम् । नियमपूर्वके विद्याग्रहणे य आख्याता=पाठयिता तत्कारकमपादानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—उपाध्यायाद् अधीते । उपाध्यायाद् आगमयति ॥

भाषार्थः—[उपयोगे] नियमपूर्वक विद्याग्रहण करने में [आख्याता] जो पढ़ानेवाला, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है ॥

उदा०—उपाध्यायाद् अधीते (उपाध्याय से नियमपूर्वक पढ़ता है) । उपाध्यायाद् आगमयति ॥

जनिकर्त्तुः प्रकृतिः ॥१।४।३०॥

जनिकर्त्तुः ६।१॥ प्रकृतिः १।१॥ स०—जनेः कर्त्ता जनिकर्त्ता, तस्य······षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अपादानम्, कारके ॥ अर्थः—जन्यर्थस्य कर्त्ता (=जायमानः), तस्य या प्रकृतिः=उपादानकारणं तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—शृङ्गात् शरो जायते । गोमयाद् वृश्चिको जायते ॥

भाषार्थः—[जनिकर्त्तुः] जन्यर्थ (जन्म) का जो कर्त्ता (उत्पन्न होनेवाला) उसकी जो [प्रकृतिः] प्रकृति उपादानकारण, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है ॥ शृङ्गात् शरो जायते (सींग से बाण बनते हैं) उदाहरण में जायते का कर्त्ता शर हे । और उस शर की प्रकृति=उपादानकारण शृङ्ग (सींग) है, तो उसकी अपादान संज्ञा हो गई । इसी प्रकार 'गोमयाद् वृश्चिको जायते' (गोबर से बिच्छू पैदा होता है) इस उदाहरण में भी जायते के कर्ता वृश्चिक की प्रकृति गोमय है, सो वहां भी अपादान संज्ञा हुई ॥

यहां से 'कर्त्तुः' की अनुवृत्ति १।४।३१ तक जाती है ॥

भुवः प्रभवः ॥१।४।३१॥

भुवः ६।१॥ प्रभवः १।१॥ अनु०—अपादानम्, कारके, कर्त्तुः ॥ अर्थः—भू धातोर्यः कर्त्ता, तस्य यः प्रभवः=उत्पत्तिस्थानम्, तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—हिमवतो गङ्गा प्रभवति । कश्मीरेभ्यो वितस्ता प्रभवति ॥

भाषार्थः—[भुवः] भू धातु का जो कर्त्ता, उसका जो [प्रभवः] प्रभव अर्थात् उत्पत्तिस्थान, उस कारक की अपादान संज्ञा होती है ॥

उदा०—हिमवतो गङ्गा प्रभवति (हिमालय से गङ्गा निकलती है)। कश्मीरेभ्यो वितस्ता प्रभवति (काश्मीर से वितस्ता निकलती है) ॥ गङ्गा, जो कि भू धातु का कर्त्ता है, उसका हिमवत्=हिमालय प्रभव उत्पत्ति-स्थान है । सो इस सूत्र से हिमवत् की अपादान संज्ञा होकर पञ्चमी विभक्ति का ङसि प्रत्यय आया, पूर्ववत् रुत्व विसर्गादि हुये । कश्मीरेभ्यः में इसी पञ्चमी का भ्यस् आया है ॥ संस्कृत में देशवाची शब्द प्रायः बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं । अतः यहां काश्मीर के एक होने पर भी बहुवचन हुआ है ॥

कर्मणा यमभिप्रेति स सम्प्रदानम् ॥१।४।३२॥

कर्मणा ३।१॥ यम् २।१॥ अभिप्रैति तिङन्तं पदम् ॥ सः १।१॥ सम्प्रदानम्

१।१।। अनु०—कारके ।। अर्थः—करणभूतेन कर्मणा यस्याभिप्रायं साधयति (यमुद्दिशति), तत् कारकं संप्रदानसंज्ञकं भवति ।। उदा०—उपाध्यायाय गां ददाति । माणवकाय भिक्षां ददाति ।।

भाषार्थः—[कर्मणा] करणभूत कर्म के द्वारा [यम्] जिसका [अभिप्रैति] अभिप्राय सिद्ध किया जाये (जिसको लक्षित किया जाये), [सः] वह कारक [सम्प्रदानम्] संप्रदानसंज्ञक होता है ।।

उदा०—उपाध्यायाय गां ददाति (उपाध्याय के लिये गौ देता है)। माणवकाय भिक्षां ददाति (बच्चे के लिये भिक्षा देता है) ।। यहां उदाहरण में देना क्रिया बन नहीं सकती,जब तक गौ का रस्सा पकड़कर उपाध्याय के हाथ में नहीं दे दिया जाता। इस ददाति क्रिया का बनानेवाला (निर्वर्तक) उपाध्याय भी हुआ, सो वह कारक हुआ । और प्रकृत सूत्र से संप्रदानसंज्ञक हुआ । संप्रदान संज्ञा होने से चतुर्थी संप्रदाने (२।३।१३) से संप्रदान में चतुर्थी विभक्ति हुई ।।

यहां से 'संप्रदानम्' की अनुवृत्ति १।४।४१ तक जायेगी ।

रुच्यर्थानां प्रीयमाणः ।।१।४।३३।।

रुच्यर्थानां ६।३।। प्रीयमाणः १।१।। स०—रुचिरर्थो येषां ते रुच्यर्थाः, तेषां बहुव्रीहिः ।। अनु०—संप्रदानम्, कारके ।। अर्थः—रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणः =तृप्यमाणः योऽर्थः, तत्कारकं संप्रदानसंज्ञकं भवति ।। उदा०—देवदत्ताय रोचते मोदकः । यज्ञदत्ताय स्वदतेऽपूपः ।।

भाषार्थः—[रुच्यर्थानाम्] रुचि अर्थात् अभिलाषार्थ धातुओं के प्रयोग में[प्रीयमाणः] प्रीयमाण अर्थात् जिसको वह वस्तु प्रिय हो, उस कारक की संप्रदान संज्ञा होती है ।।

उदा०—देवदत्ताय रोचते मोदकः (देवदत्त को लड्डू अच्छे लगते हैं) । यज्ञदत्ताय स्वदतेऽपूपः (यज्ञदत्त को पुआ स्वादु लगता है) ।।

यहां उदाहरणों में देवदत्त को लड्डू और यज्ञदत्त को पुआ प्रिय लग रहा है, अतः उनकी संप्रदान संज्ञा हुई ।।

श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः ।।१।४।३४।।

श्लाघह्नुङ्स्थाशपाम् ६।३।। ज्ञीप्स्यमानः १।१।। स०—श्लाघह्नुङ्० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—सम्प्रदानम्, कारके ।। अर्थः—श्लाघ, ह्नुङ्, स्था, शप इत्येतेषां धातूनां प्रयोगे ज्ञीप्स्यमानः=ज्ञपयितुमिष्यमाणो योऽर्थः, तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति ।। उदा०—देवदत्ताय श्लाघते । देवदत्ताय ह्नुते । देवदत्ताय तिष्ठते । देवदत्ताय शपते ।।

भाषार्थः—[श्लाघह्नुङ्स्थाशपाम्] श्लाघ, ह्नुङ्, स्था, शप इन धातुओं के प्रयोग में [ज्ञीप्स्यमानः] जो जनाये जाने की इच्छावाला है, उस कारक की संप्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—देवदत्ताय श्लाघते (देवदत्त की प्रशंसा देवदत्त को जनाने की इच्छा से करता है)। देवदत्ताय ह्नुते (देवदत्त की निन्दा देवदत्त को जनाने की इच्छा से करता है)। देवदत्ताय तिष्ठते (देवदत्त को जनानें की इच्छा से देवदत्त के लिये ठहरता है)। देवदत्ताय शपते (देवदत्त को बुरा-भला देवदत्त को जनाने की इच्छा से कहता है)॥ उदाहरणों में देवदत्त जनाए जाने की इच्छावाला है, अर्थात् देवदत्त को जनाना चाहता है, सो देवदत्त सम्प्रदानसंज्ञक हो गया॥

धारेरुत्तमर्णः ॥१।४।३५॥ संप्रदान

धारेः ६।१॥ उत्तमर्णः १।१॥ स०—उत्तमम् ऋणं यस्य स उत्तमर्णः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—संप्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—धारयतेः धातोः प्रयोगे उत्तमर्णः= ऋणदाता यस्तत् कारकं संप्रदानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—देवदत्ताय शतं धारयति यज्ञदत्तः ॥

भाषार्थः—[धारेः] धारि (णिजन्त धृञ्) धातु के प्रयोग में [उत्तमर्णः] उत्तमर्ण अर्थात् ऋण देनेवाला जो कारक उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—देवदत्ताय शतं धारयति यज्ञदत्तः (यज्ञदत्त ने देवदत्त के सौ रुपये देने हैं)॥ उदाहरण में देवदत्त ऋण देनेवाला है, सो उसकी संप्रदान संज्ञा हुई॥

स्पृहेरीप्सितः ॥१।४।३६॥ संप्रदान

स्पृहेः ६।१॥ ईप्सितः १।१॥ अनु०—सम्प्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—'स्पृह ईप्सायाम्' चुरादावदन्तः पठ्यते । स्पृहेः धातोः प्रयोगे ईप्सितोऽभिप्रेतो यस्तत्कारकं संप्रदानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—पुष्पेभ्यः स्पृहयति । फलेभ्यः स्पृहयति ॥

भाषार्थः—[स्पृहेः] 'स्पृह ईप्सायाम्' धातु के प्रयोग में [ईप्सितः] ईप्सित जो कारक उसकी संप्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा—पुष्पेभ्यः स्पृहयति (फूलों की लालसा करता है)। फलेभ्यः स्पृहयति (फलों की लालसा करता है)॥

क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः ॥१।४।३७॥ संप्रदान

क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानाम् ६।३॥ यम् २।१॥ प्रति अ० ॥ कोपः १।१॥ स०—

क्रुधश्च द्रुहश्च ईर्ष्यश्च असूयश्च, क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयाः क्रुधद्रुहेर्ष्यासूया अर्था येषां ते क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थाः, तेषाम्, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—संप्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—क्रुधार्थानां द्रुहार्थानाम् ईर्ष्यार्थानाम् असूयार्थानां च धातूनां प्रयोगे यं प्रति कोपस्तत् कारकं संप्रदानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—देवदत्ताय क्रुध्यति । देवदत्ताय द्रुह्यति । देवदत्ताय । देवदत्ताय ईर्ष्यति । देवदत्तायअसूयति ॥

भाषार्थः—[क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानाम्] क्रुध, द्रुह, ईर्ष्य तथा असूय इन अर्थों-वाली धातुओं के प्रयोग में [यम्] जिसके [प्रति] ऊपर [कोपः] कोप किया जाये, उस कारक की संप्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—देवदत्ताय क्रुध्यति (देवदत्त पर क्रोध करता है) । देवदत्ताय द्रुह्यति (देवदत्त से द्रोह करता है) । देवदत्ताय ईर्ष्यति (देवदत्त से ईर्ष्या करता है) । देवदत्ताय असूयति (देवदत्त के गुणों की भी निन्दा करता है) ॥

यहां से 'यं प्रति कोपः' की अनुवृत्ति १।४।३८ तक जायेगी ॥

क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म ॥१।४।३८॥

क्रुधद्रुहोः ६।२॥ उपसृष्टयोः ६।२॥ कर्म १।१॥ स०—क्रुधद्रुहोरित्यत्रे-तरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—यं प्रति कोपः, कारके ॥ अर्थः—उपसृष्टयोः=उपसर्ग-पूर्वकयोः क्रुधद्रुहोः प्रयोगे यं प्रति कोपस्तत्कारकं कर्मसंज्ञकं भवति ॥ पूर्वेण संप्रदान-संज्ञा प्राप्ता, कर्मसंज्ञा विधीयते ॥ उदा०—देवदत्तमभिक्रुध्यति । देवदत्तमभि-द्रुह्यति ॥

भाषार्थः—[उपसृष्टयोः] उपसर्ग से युक्त जो [क्रुधद्रुहोः] क्रुध तथा द्रुह धातु, उनके प्रयोग में जिसके प्रति कोप किया जाये, उस कारक की कर्म संज्ञा होती है ॥ पूर्वसूत्र से सम्प्रदान संज्ञा प्राप्त थी, यहां कर्म संज्ञा का विधान किया है । अतः यहाँ सम्प्रदानम् की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगता ॥

उदा०—देवदत्तमभिक्रुध्यति (देवदत्त पर क्रोध करता है) । देवदत्तमभि-द्रुह्यति (देवदत्त के साथ द्रोह करता है) ॥ कर्मणि द्वितीया (२।३।२) से कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है ॥

राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः ॥१।४।३९॥

राधीक्ष्योः ६।२॥ यस्य ६।१॥ विप्रश्नः १।१॥ स०—राधिश्च ईक्षिश्च राधीक्षी, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—सम्प्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—राधीक्ष्योः धात्वोः प्रयोगे यस्य विप्रश्नः=विविधः प्रश्नः क्रियते, तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—देवदत्ताय राध्यति । देवदत्ताय ईक्षते ॥

भाषार्थः—[राधीक्ष्योः] राध तथा ईक्ष धातुओं के प्रयोग में [यस्य] जिसके विषय में [विप्रश्नः] विविध प्रश्न हों, उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा० - देवदत्ताय राध्यति (देवदत्त के विषय में पूछे जाने पर उसके भाग्य का पर्यालोचन करता है) । देवदत्ताय ईक्षते ॥

प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता ॥१।४।४०॥

प्रत्याङ्भ्याम् ५।२॥ श्रुवः ६।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ कर्त्ता १।१॥ स०—प्रत्याङ्भ्यामित्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—सम्प्रदानम्, कारके ॥ अर्थः - प्रति आङ् इत्येवंपूर्वस्य श्रृणोतेः धातोः प्रयोगे पूर्वस्य कर्त्ता यस्तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति ॥ उदा०—यज्ञदत्तः देवदत्ताय गां प्रतिश्रृणोति । देवदत्ताय गामाश्रृणोति ॥

भाषार्थः—[प्रत्याङ्भ्याम्] प्रति आङ् पूर्वक [श्रुवः] श्रु धातु के प्रयोग में [पूर्वस्य] पूर्व का जो [कर्त्ता] कर्त्ता, उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—यज्ञदत्तः देवदत्ताय गां प्रतिश्रृणोति (यज्ञदत्त देवदत्त को गौ देने की प्रतिज्ञा करता है)। देवदत्ताय गामाश्रृणोति ॥ उदाहरणों में पहले देवदत्त गौ मांगता है, अर्थात् देवदत्त मांगना क्रिया का कर्त्ता है, पश्चात् यज्ञदत्त देवदत्त को गौ देने की प्रतिज्ञा करता है । सो देवदत्त की पूर्व क्रिया का कर्त्ता होने से सम्प्रदान संज्ञा हो गई ॥

यहां से 'पूर्वस्य कर्त्ता' की अनुवृत्ति १।४।४१ तक जाती है ॥

अनुप्रतिगृणश्च ॥१।४।४१॥

अनुप्रतिगृणः ६।१॥ च अ० ॥ स०—अनुश्च प्रतिश्च अनुप्रती, ताभ्यां गृणाः अनुप्रतिगृणाः, तस्य अनुप्रतिगृणः, द्वन्द्वगर्भपञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—पूर्वस्य कर्त्ता, सम्प्रदानम्, कारके ॥ अर्थः—अनु पूर्वस्य प्रति पूर्वस्य च गृणातेर्धातोः प्रयोगे पूर्वस्य कर्त्ता यस्तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—होत्रे अनुगृणाति । होत्रे प्रतिगृणाति ॥

भाषार्थः—[अनुप्रतिगृणः] अनुप्रतिपूर्वक गृणाति धातु के प्रयोग में पूर्व का जो कर्त्ता, ऐसे कारक की [च] भी सम्प्रदान संज्ञा होती है ॥

उदा०—होत्रे अनुगृणाति (होता को प्रोत्साहित करने के लिये अध्वर्यु मन्त्र बोलता है) । होत्रे प्रतिगृणाति । यहाँ होता पहले मन्त्र बोल रहा है, उसको अध्वर्यु (अनुगर-प्रतिगर द्वारा) प्रोत्साहित करता है । सो होता पहले मन्त्र बोलने की क्रिया का कर्त्ता है, अतः पूर्व क्रिया का कर्त्ता होने से उसकी सम्प्रदान संज्ञा हुई है ॥

करण

साधकतमं करणम् ॥१।४।४२॥

साधकतमम् १।१॥ करणम् १।१॥ अनु०—कारके ॥ अर्थः—क्रियायाः सिद्धौ यत् साधकतमं, तत् कारकं करणसंज्ञकं भवति ॥ उदा०—दात्रेण लुनाति । परशुना छिनत्ति ॥

भाषार्थः—क्रिया की सिद्धि में जो [साधकतमम्] सब से अधिक सहायक, उस कारक की [करणम्] करण संज्ञा होती है ।

उदा०—दात्रेण लुनाति (दरांती के द्वारा काटता है) । परशुना छिनत्ति (कुल्हाड़ी के द्वारा फाड़ता है)॥ उदाहरणों में दात्र तथा परशु काटने वा फाड़ने की क्रिया में सब से अधिक साधक हैं,ये न होते तो फाड़ना वा काटना क्रिया हो ही नहीं सकती थी । सो साधकतम होने से इनकी करण संज्ञा हुई । करण संज्ञा होने से कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८) से तृतीया विभक्ति हो गई ॥

यहां से 'साधकतमम्' की अनुवृत्ति १।४।४४ तक जाती है ॥

करण, कर्म

दिवः कर्म च ॥१।४।४३॥

दिवः ६।१॥ कर्म १।१॥ च अ० ॥ अनु०—साधकतमम्, कारके ॥ अर्थः—दिव्धातोः साधकतमं यत् कारकं तत् कर्मसंज्ञं भवति, चकारात् करणसंज्ञं च ॥ उदा०—अक्षान् दीव्यति । अक्षैर्दीव्यति ॥

भाषार्थः—[दिवः] दिव् धातु का जो साधकतम कारक उसकी [कर्म] कर्म संज्ञा होती है, [च] और करण संज्ञा भी होती है ॥ पूर्व सूत्र से करण संज्ञा ही प्राप्त थी, यहाँ कर्म का भी विधान कर दिया है ॥

उदा०—अक्षान् दीव्यति (पाशों के द्वारा खेलता है) । अक्षैर्दीव्यति ॥

करण
सम्प्रदानम्

परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् ॥१।४।४४॥

परिक्रयणे ७।१॥ सम्प्रदानम् १।१॥ अन्यतरस्याम् अ० ॥ अनु०—साधकतमम्,कारके ॥ अर्थः—परिक्रयणे=नियतकालं वेतनादिना स्वीकरणे साधकतमं यत् कारकं, तत् सम्प्रदानसंज्ञकं भवति विकल्पेन, पक्षे यथाप्राप्ता करणसंज्ञा भवति ॥ उदा०—शताय परिक्रीतोऽनुब्रूहि । शतेन परिक्रीतोऽनुब्रूहि ॥

भाषार्थः—[परिक्रयणे] परिक्रयण[1] में जो साधकतम कारक उसकी [सम्प्रदानम्]

१—परिक्रयण का अभिप्राय यह है कि किसी ने किसी को उधार में रुपया दिया, पर वह उसको लौटा नहीं सका । तब उसने उसको खरीद लिया, अर्थात् जब तक वह रुपया न चुका दे, तब तक उसकी नौकरी बजाता रहे ॥

सम्प्रदानसंज्ञा [अन्यतरस्याम्] विकल्प से होती है। पक्ष में यथाप्राप्त करण संज्ञा हो जाती है॥

उदा०—शताय परिक्रीतोऽनुब्रूहि (तू तो सौ रुपए से खरीदा हुआ है, अब बोल?) शतेन परिक्रीतोऽनुब्रूहि॥

आधारोऽधिकरणम् ॥१।४।४५॥

आधारः १।१॥ अधिकरणम् १।१॥ अनु०—कारके॥ अर्थः—कर्त्तृकर्मणोः क्रियाश्रयभूतयोः धारणक्रियां प्रति य आधारस्तत्कारकमधिकरणसंज्ञकं भवति॥ उदा०—कटे आस्ते। कटे शेते। स्थाल्यां पचति॥

भाषार्थः—क्रिया के आश्रय कर्त्ता तथा कर्म की धारणक्रिया के प्रति [आधारः] आधार जो कारक, उसकी [अधिकरणम्] अधिकरण संज्ञा होती है॥

उदा०—कटे आस्ते (चटाई पर बैठता है)। कटे शेते (चटाई पर सोता है)। स्थाल्यां पचति (बटलोई में पकाता है)॥

उदाहरण में आस्ते शेते क्रियाओं के आश्रय देवदत्त आदि कर्त्ता का आधार कट=चटाई है, सो उसकी अधिकरण संज्ञा हो गई। इसी प्रकार पचति क्रिया के आश्रय तण्डुल आदि कर्म की धारण क्रिया का आधार स्थाली है, सो उस की भी अधिकरण संज्ञा हो गई। अधिकरण संज्ञा होने से सप्तम्यधिकरणे च (२।३।३६) से सप्तमी विभक्ति हो गई॥

यहां से १।४।४८ तक 'आधारः' की अनुवृत्ति जाती है॥

अधिशीङ्स्थासां कर्म ॥१।४।४६॥

अधिशीङ्स्थासाम् ६।३॥ कर्म १।१॥ स०—शीङ् च स्थाश्च आश्च शीङ्स्थासः, अधेः शीङ्स्थासः अधिशीङ्स्थासः,तेषां·····द्वन्द्वगर्भः पञ्चमीतत्पुरुषः॥ अनु०—आधारः, कारके॥ अर्थः—अधिपूर्वाणां शीङ् स्था आस् इत्येतेषाम् आधारो यस्तत् कारकं कर्मसंज्ञकं भवति॥ उदा०—ग्राममधिशेते। ग्राममधितिष्ठति। पर्वतमध्यास्ते॥

भाषार्थः—[अधिशीङ्स्थासाम्] अधिपूर्वक शीङ् स्था आस् इन का आधार जो कारक, उसकी [कर्म] कर्म संज्ञा होती है॥ पूर्वसूत्र से आधार कारक की अधिकरण संज्ञा प्राप्त थी, यहां कर्म संज्ञा का विधान कर दिया॥

उदा०—ग्राममधिशेते (ग्राम में सोता है)। ग्राममधितिष्ठति (ग्राम में अधिष्ठाता बनकर रहता है)। पर्वतमध्यास्ते (पर्वत के ऊपर रहता है)॥

यहां से 'कर्म' की अनुवृत्ति १।४।४८ तक जाती है ॥

कर्म

अभिनिविशश्च ॥१।४।४७॥

अभिनिविशः ६।१॥ च अ० ॥ स० —अभिश्च निश्च अभिनी, ताभ्यां विश् अभिनिविश्, तस्य, द्वन्द्वगर्भपञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्म, आधारः, कारके ॥ अर्थः—अभिनिपूर्वस्य विशतेः आधारो यस्तत्कारकमपि कर्मसंज्ञं भवति ॥ उदा०—ग्राममभिनिविशते ॥

भाषार्थः—[अभिनिविशः] अभि नि पूर्वक विश् का जो आधार, उस कारक की [च] भी कर्म संज्ञा होती है ॥

उदा०—ग्राममभिनिविशते (ग्राम में प्रविष्ट होता है) ॥

कर्म

उपान्वध्याङ्वसः ॥१।४।४८॥

उपान्वध्याङ्वसः ६।१॥ स०—उपश्च अनुश्च अधिश्च आङ् च उपान्वध्याङः, तेभ्यो वस् उपान्वध्याङ्वस्, तस्य, द्वन्द्वगर्भपञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—कारके, कर्म, आधारः ॥ अर्थः—उप, अनु, अधि, आङ् इत्येवंपूर्वस्य वसतेः आधारो यस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं भवति ॥ उदा०—ग्राममुपवसति सेना। पर्वतमुपवसति। ग्राममनुवसति। ग्राममधिवसति। ग्राममावसति ॥

भाषार्थः—[उपान्वध्याङ्वसः] उप अनु अधि और आङ् पूर्वक वस् का जो आधार, उस कारक की कर्म संज्ञा होती है ॥

उदा०—ग्राममुपवसति सेना (ग्राम के पास सेना ठहरी है)। पर्वतमुपवसति। ग्राममनुवसति सेना (ग्राम के साथ-साथ सेना ठहरी है)। ग्राममधिवसति (ग्राम में सेना ठहरी है)। ग्राममावसति (ग्राम में सेना आवास करती है) ॥

कर्म

कर्तुरीप्सिततमं कर्म ॥१।४।४९॥

कर्तुः ६।१॥ ईप्सिततमम् १।१॥ कर्म १।१॥ अनु०—कारके ॥ अर्थः—कर्तुः क्रियया यदाप्तुम् इष्टतमं, तत् कारकं कर्मसंज्ञं भवति ॥ उदा०—देवदत्तः कटं करोति। ग्रामं गच्छति देवदत्तः ॥

भाषार्थः—[कर्तुः] कर्त्ता को अपनी क्रिया द्वारा जो [ईप्सिततमम] अत्यन्त ईप्सित हो, उस कारक की [कर्म] कर्म संज्ञा होती है ॥

उदा०—देवदत्तः कटं करोति (देवदत्त चटाई बनाता है)। ग्रामं गच्छति देवदत्तः (देवदत्त ग्राम को जाता है) ॥ उदाहरणों में देवदत्त कर्त्ता को करोति वा

गच्छति क्रिया से सब से अधिक ईप्सित कट वा ग्राम है। सो कर्म संज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति पूर्ववत् हुई है ।।

यहां से 'कर्म' की अनुवृत्ति १।४।५३ तक जाती है ।।

कर्म

तथा युक्तं चानीप्सितम् ।।१।४।५०।।

तथा अ० ।। युक्तम् १।१।। च अ० ।। अनीप्सितम् १।१।। स०— न ईप्सितम् अनीप्सितम्, नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—कर्म,कारके ।। अर्थः—येन प्रकारेण कर्तुरीप्सिततमं क्रियया युक्तं भवति, तेनैव प्रकारेण यदि कर्तुरनीप्सितमपि युक्तं भवेत्, तत् कर्मसंज्ञकं स्यात् ।। उदा०—विषं भक्षयति । चौरान् पश्यति । ग्रामं गच्छन्वृक्षमूलान्युपसर्पति ।।

भाषार्थः—जिस प्रकार कर्त्ता का अत्यन्त ईप्सित कारक क्रिया के साथ युक्त होता है, [तथा] उस प्रकार [च] ही कर्त्ता का [अनीप्सितम्]न चाहा हुआ कारक क्रिया के साथ [युक्तम्] युक्त हो, तो उसकी कर्म संज्ञा होती है ।।

उदा०—विषं भक्षयति (विष को खाता है) । चौरान् पश्यति (चोरों को देखता है) । ग्रामम् गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पति (गांव को जाता हुआ वृक्ष की जड़ों को छूता है)।। उदाहरणों में विष कोई नहीं खाना चाहता,वा चोरों को नहीं देखना चाहता, पर अकस्मात् देखना पड़ता है । विष किसी दुःख के कारण खाना पड़ता है। गांव को जाते हुये न चाही हुई वृक्ष की जड़ों को छूते हुये जाता है, अतः यह सब अनीप्सित थे । सो अनीप्सित होने से पूर्व सूत्र से कर्मसंज्ञक नहीं हो सकते थे, इस सूत्र ने कर दिये ।।

कर्म

अकथितं च ।।१।४।५१।।

अकथितम् १।१।। च अ०।। स०—न कथितम् अकथितम्, नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—कर्म, कारके ।। अर्थः—अकथितमपादानादिकारकैश्चानुक्तं यत् कारकं तत् कर्मसंज्ञं भवति ।। उदा०—पाणिना कांस्यपात्र्यां गां दोग्धि पयः । पौरवं गां याचते । गामवरुणद्धि व्रजम् । माणवकं पन्थानं पृच्छति । पौरवं गां भिक्षते । वृक्षमवचिनोति फलम् । माणवकं धर्मं ब्रूते । माणवकं धर्मम् अनुशास्ति ।।

भाषार्थः—[अकथितम्] अनुक्त=अपादानादि से न कहा गया जो कारक, उसकी [च] भी कर्म संज्ञा होती है ।।

उदा०—पाणिना कांस्य पात्र्यां गा दोग्धि पयः (हाथ से कांसे के पात्र में गाय का दूध दुहता है) । पौरवं गां याचते (पौरव से गौ को मांगता है) । गाम-

वरुणद्धि व्रजम् (गाय को बाड़े में रोकता है)। माणवकं पन्थानं पृच्छति (लड़के से मार्ग को पूछता है)। पौरवं गां भिक्षते। वृक्षमवचिनोति फलम् (वृक्ष से फल तोड़ता है)। माणवकं धर्मं ब्रूते (लड़के को धर्म का उपदेश देता है)। माणवकं धर्मम् अनुशास्ति (लड़के को धर्म का अनुशासन बताता है)॥ गां दोग्धि पयः, पौरवं गां याचते आदि उदाहरणों में पयः गां इत्यादि की तो कर्त्ता के ईप्सिततम होने से कर्तुरीप्सिततमं० (१।४।४६) से कर्म संज्ञा हो ही जायेगी, पर गौ या पौरव इत्यादि में क्या कारक होवें? अपादान करण इत्यादि हो नहीं सकते, अतः ये अकथित =अनुक्त ही हैं। सो इनकी प्रकृत सूत्र से कर्म संज्ञा होकर द्वितीया हो गई॥

महाभाष्य में इनका परिगणन कारिका में कर दिया गया है। वह कारिका निम्न प्रकार है—

दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ।
ब्रुविशासिगुणेन च यत् सचते तदकीर्त्तितमाचरितं कविना॥

अर्थात् दुह, याच, रुध, प्रच्छ, भिक्ष तथा चिञ् इन धातुओं के उपयोग (दूध इत्यादि) का जो निमित्त=कारण (गौ इत्यादि) उसकी अपूर्वविधि में=अकथित होने पर कर्म संज्ञा होती है। एवं ब्रूञ् शास धातुओं के प्रधान कर्म (धर्मादि) से जो सम्बन्धित होता है (माणवकादि) उसके अकथित की भी कर्म संज्ञा होती है॥

गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्त्ता स णौ ॥१।४।५२॥

गतिबुद्धि······काणाम् ६।३॥ अणि लुप्तसप्तम्यन्तनिर्देशः॥ कर्त्ता १।१॥ सः १।१॥ णौ ७।१॥ स०—गतिश्च बुद्धिश्च प्रत्यवसानञ्च गतिबुद्धिप्रत्यवसानानि, गति······वसानानि अर्था येषां ते गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थाः, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः। शब्दः कर्म यस्य स शब्दकर्मा, बहुव्रीहिः। न विद्यते कर्म यस्य सोऽकर्मकः, बहुव्रीहिः। गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थाश्च शब्दकर्मा च अकर्मकश्चेति गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाः, तेषां, बहुव्रीहिगर्भो द्वन्द्वः। न णिः अणिः, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—कर्म, कारके॥ अर्थः—गत्यर्थानां बुद्ध्यर्थानां प्रत्यवसानार्थानां शब्दकर्मकाणामकर्मकाणाञ्च अण्यन्तावस्थायां यः कर्त्ता स ण्यन्तावस्थायां कर्मसंज्ञको भवति॥ उदा०—गत्यर्थाः—गच्छति माणवको ग्रामम्, गमयति माणवकं ग्रामम्। याति माणवको ग्रामम्, यापयति माणवकं ग्रामम्॥ बुद्ध्यर्थाः—बुद्ध्यते माणवको धर्मम्, बोधयति माणवकं धर्मम्। वेत्ति माणवको धर्मम्, वेदयति माणवकं धर्मम्॥ प्रत्यवसानार्थाः—भुङ्क्ते माणवको रोटिकाम्, भोजयति माणवकं रोटिकाम्॥ अश्नाति माणवको रोटिकाम्, आशयति माणवकं रोटिकाम्॥ शब्दकर्मकाणाम्—

अधीते माणवको वेदम्, अध्यापयति माणवकं वेदम् । पठति माणवको वेदम्, पाठयति माणवकं वेदम् ।। अकर्मकाणाम्—आस्ते देवदत्तः, आसयति देवदत्तम् । शेते देवदत्तः, शाययति देवदत्तम् ।।

भाषार्थः— [गति ····काणाम्] गत्यर्थक, बुद्धयर्थक, प्रत्यवसानार्थक=भोजनार्थक तथा शब्दकर्मवाली और अकर्मक धातुओं का जो [अणि] अण्यन्त अवस्था का [कर्त्ता] कर्त्ता [सः] वह [णौ] ण्यन्त अवस्था में कर्मसंज्ञक हो जाता है ।।

उदा०—गति-अर्थवाली—गच्छति माणवको ग्रामम्, गमयति माणवकं ग्रामम् (लड़के को गांव भेजता है) । याति माणवको ग्रामम्, यापयति माणवकं ग्रामम् ।। बुद्धि-अर्थवाली—बुद्धयते माणवको धर्मम्, बोधयति माणवकं धर्मम् (लड़के को धर्म का बोध कराता है) । वेत्ति माणवको धर्मम्, वेदयति माणवकं धर्मम् ।। भोजन-अर्थवाली भुङ्क्ते माणवको रोटिकाम्, भोजयति माणवकं रोटिकाम् (माणवक को रोटी खिलाता है) । अश्नाति माणवको रोटिकाम्, आशयति माणवकं रोटिकाम् ।। शब्दकर्मवाली—अधीते माणवको वेदम्, अध्यापयति माणवकं वेदम् (लड़के को वेद पढ़ाता है) । पठति माणवको वेदम्, पाठयति माणवकं वेदम् ।। अकर्मक—आस्ते देवदत्तः, आसयति देवदत्तम् (देवदत्त को बिठाता है) । शेते देवदत्तः, शाययति देवदत्तम् (देवदत्त को सुलाता है) ।।

ऊपर के सारे उदाहरण पहले अण्यन्त अवस्था में दिखाकर, पुनः ण्यन्त में दिखाये गये हैं । सो स्पष्ट ही पता लग जाता है कि अण्यन्त में जो 'माणवक' कर्त्ता था, वह ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञक होकर द्वितीया विभक्तिवाला हो जाता है । माणवक में कर्तृकरणयोस्तृतीया (२।३।१८) से अनभिहित कर्त्ता होने से तृतीया विभक्ति पाती थी, द्वितीया हो गई है ।।

यहाँ से 'अणि कर्त्ता स णौ' की अनुवृत्ति १।४।५३ तक जायेगी ।।

हृक्रोरन्यतरस्याम् ।।१।४।५३।।

हृक्रोः ६।२।। अन्यतरस्याम् अ० ।। स०—हृक्रोरित्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। **अनु०**—अणि कर्त्ता स णौ, कर्म, कारके ।। **अर्थः**—हृञ् कृञ् इत्येतयोर्धात्वोः अण्यन्तयोः यः कर्त्ता स ण्यन्तावस्थायां विकल्पेन कर्मसंज्ञको भवति ।। **उदा०**—हरति माणवको भारम्, हारयति माणवकं भारम् । हारयति भारं माणवकेन इति वा ।। करोति कटं देवदत्तः, कारयति कटं देवदत्तम् । कारयति कटं देवदत्तेन इति वा ।।

भाषार्थः—[हृक्रोः] **हृञ् तथा कृञ् धातु का अण्यन्त अवस्था का जो कर्त्ता, वह**

ण्यन्त अवस्था में कर्मसंज्ञक [अन्यतरस्याम्] विकल्प से होता है ।। जब कर्मसंज्ञक नहीं हुआ,तो कर्तृकरणयो० (२।३।१८) से तृतीया विभक्ति हो गई ।।

उदा० – हरति माणवको भारम्, हारयति माणवकं भारम् (लड़के से भार उठवाता है)। हारयति भारं माणवकेन इति वा ।। करोति कटं देवदत्तः, कारयति कटं देवदत्तम (देवदत्त से चटाई बनवाता है) । कारयति कटं देवदत्तेन इति वा ।।

स्वतन्त्रः कर्त्ता ।।१।४।५४।।

स्वतन्त्रः १।१।। कर्त्ता १।१।। अनु०—कारके ।। अर्थः-क्रियायाः सिद्धौ प्रधानो यः स्वातन्त्र्येण विवक्ष्यते, तत् कारकं कर्तृसंज्ञकं भवति ।। उदा०—देवदत्तः पचति । स्थाली पचति ।।

भाषार्थः — क्रिया की सिद्धि में जो [स्वतन्त्रः] प्रधान अर्थात् स्वतन्त्ररूप से विवक्षित होता है, उस कारक की [कर्त्ता] कर्त्ता संज्ञा होती है ।। कर्त्ता संज्ञा हो जाने से पचति में कर्त्ता में लकार हुआ । देवदत्त तथा स्थाली लकार द्वारा उक्त हैं । अतः तृतीया विभक्ति न होकर प्रातिपदिकार्थ० (२।३।४६) से प्रथमा विभक्ति हो हो जाती है ।।

यहां से 'कर्त्ता' की अनुवृत्ति १।४।५५ तक जायेगी ।।

तत्प्रयोजको हेतुश्च ।।१।४।५५।।

तत्प्रयोजकः १।१।। हेतुः १।१।। च अ० ।। स०—तस्य प्रयोजकः तत्प्रयोजकः, षष्ठीतत्पुरुषः । निपातनात् समासः ।। अनु०—कर्त्ता, कारके ।। अर्थः—तस्य= स्वतन्त्रस्य प्रयोजकः=प्रेरको योऽर्थस्तत् कारकं हेतुसंज्ञं भवति, चकारात् कर्तृसंज्ञं च ।। उदा०—देवदत्तः कटं करोति, तं यज्ञदत्तः प्रयुङ्क्ते=यज्ञदत्तो देवदत्तेन कटं कारयति ।।

भाषार्थः— [तत्प्रयोजकः] उस स्वतन्त्र का जो प्रयोजक अर्थात् प्रेरक, उस कारक की [हेतुः] हेतु संज्ञा होती है, [च] और कर्त्ता संज्ञा भी होती है ।।

उदा०—देवदत्तः कटं करोति, तं यज्ञदत्तः प्रयुङ्क्ते=यज्ञदत्तो देवदत्तेन कटं कारयति (यज्ञदत्त देवदत्त से चटाई बनवाता है) ।। उदाहरण में यज्ञदत्त की हेतु संज्ञा होने से हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् प्रत्यय कृञ् धातु से हुआ है, तथा कर्त्ता संज्ञा होने से कर्तृप्रक्रिया में लकार आ गया है ।।

[निपातसंज्ञा-प्रकरणम्]

प्राग्रीश्वरान्निपाताः ।।१।४।५६।।

प्राक् अ० ।। रीश्वरात् ५।१।। निपाताः १।३।। अर्थः-अधिरीश्वरे (१।४।९६)

इत्येतस्मात् प्राक् निपातसंज्ञा भवन्ति, इत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ उदा०—च, वा, ह, अह ॥

भाषार्थः—[रीश्वरात्] अधिरीश्वरे (१।४।९६) सूत्र से [प्राक्] पूर्व-पूर्व [निपाताः] निपात संज्ञा का अधिकार जाता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ च, वा, ह आदियों की चादयोऽसत्त्वे (१।४।५७) से निपात संज्ञा होकर स्वरादिनिपातमव्ययम् (१।१।३६) से अव्यय संज्ञा हो जाती है। अव्यय संज्ञा होने से अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से सुप् का लुक् हो जाता है। निपात संज्ञा का सर्वत्र यही फल जानना चाहिये ॥

यहाँ से 'निपाताः' का अधिकार विभाषा कृञि (१।४।९७) तक जाता है ॥

चादयोऽसत्त्वे ॥१।४।५७॥

चादयः १।३॥ असत्त्वे ७।१॥ स०—च आदिर्येषां ते चादयः, बहुव्रीहिः। न सत्त्वम् असत्त्वम्, तस्मिन् असत्त्वे, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—निपाताः ॥ अर्थः—चादयो निपातसंज्ञका भवन्ति, यदि सत्त्वेऽर्थे न वर्तन्ते ॥ उदा०—च, वा, ह, एव ॥

भाषार्थः—[चादयः] चादिगण में पढ़े शब्दों की निपात संज्ञा होती है, यदि वे [असत्त्वे] सत्त्व अर्थात् द्रव्यवाची न हों तो ॥

उदा०—च (और)। वा (विकल्प)। ह (निश्चय से)। एव (ही) ॥

यहां से 'असत्त्वे' की अनुवृत्ति १।४।५८ तक जाती है ॥

प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे ॥१।४।५८॥

प्रादयः १।३॥ उपसर्गाः १।३॥ क्रियायोगे ७।१॥ स०—प्र आदिर्येषां ते प्रादयः, बहुव्रीहिः। क्रियया योगः क्रियायोगः, तस्मिन्, तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—असत्त्वे, निपाताः ॥ अर्थः—असत्त्ववाचिनः प्रादयो निपातसंज्ञका भवन्ति, ते च प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञकाश्च भवन्ति ॥ उदा०—प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, उप। क्रियायोगे—प्रणयति। परिणयति। प्रणायकः ॥

भाषार्थः—[प्रादयः] प्रादिगण में पठित शब्दों की निपात संज्ञा होती है। तथा [क्रियायोगे] क्रिया के साथ प्रयुक्त होने पर उनकी [उपसर्गाः] उपसर्ग संज्ञा भी होती है ॥

उदा०—प्र (प्रकर्ष)। परा (परे)। अप (हटना)। क्रिया के योग में—प्रणयति (बनाता है)। परिणयति (विवाह करता है)। प्रणायकः (लेजानेवाला) ॥ प्र परा शब्दों की निपात संज्ञा होने का पूर्ववत् ही फल है। प्रणयति इत्यादि में नयति

क्रिया के साथ प्रादियों का योग है। सो उपसर्ग संज्ञा होकर उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य (८।४।१४) से उपसर्ग से उत्तर 'न' को 'ण' हो गया है ॥

यहां से 'प्रादयः' की अनुवृत्ति १।४।५९ तक, तथा 'क्रियायोगे' की १।४।७८ तक जाती है ॥

[निपातसंज्ञान्तर्गत-गतिसंज्ञा-प्रकरणम्]

गतिश्च ॥१।४।५९॥

गतिः १।१॥ च अ० ॥ अनु०—प्रादयः, क्रियायोगे ॥ अर्थः—प्रादयः क्रियायोगे गतिसंज्ञकाश्च भवन्ति ॥ उदा०—प्रकृत्य, प्रकृतम्, यत् प्रकरोति ॥

भाषार्थः—प्रादियों की क्रिया के योग में [गतिः] गति संज्ञा, [च] और उपसर्ग संज्ञा भी होती है ॥ आगे गति संज्ञा के सूत्रों में प्राग्रीश्वरान्निपाताः (१।४।५६) सूत्र से गति संज्ञावाले शब्दों की निपात संज्ञा भी होती जायेगी ॥

यहाँ से 'गति' की अनुवृत्ति १।४।७८ तक जायेगी ॥

ऊर्यादिच्विडाचश्च ॥१।४।६०॥

ऊर्यादिच्विडाचः १।३॥ च अ० ॥ स०—ऊरी आदिर्येषां ते ऊर्यादयः, ऊर्यादयश्च च्विश्च डाच्च इति ऊर्यादिच्विडाचः, बहुव्रीहिगर्भेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—ऊर्यादयः शब्दा च्व्यन्ता डाजन्ताश्च क्रियायोगे गतिसंज्ञका निपातसंज्ञकाश्च भवन्ति ॥ उदा०—ऊरीकृत्य । ऊरीकृतम् । यदूरीकरोति ॥ शुक्लीकृत्य। शुक्लीकृतम् । यत् शुक्लीकरोति॥ पटपटाकृत्य । पटपटाकृतम् । यत् पटपटाकरोति ॥

भाषार्थः—[ऊर्या···चः] ऊर्यादि शब्द, तथा च्व्यन्त और डाजन्त शब्दों की [च] भी क्रिया के योग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥

अनुकरणं चानितिपरम् ॥१।४।६१॥

अनुकरणं १।१॥ च अ० ॥ अनितिपरम् १।१॥ स०—इतिः परो यस्मात् तत् इतिपरम्, न इतिपरम् अनितिपरम्, बहुव्रीहिगर्भो नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—अनितिपरम् अनुकरणं क्रियायोगे गतिसंज्ञकं निपातसंज्ञकं च भवति ॥ उदा०—खाट्कृत्य । खाट्कृतम् । यत् खाट्करोति ॥

भाषार्थः—[अनितिपरम्] इतिशब्द जिससे परे नहीं है, ऐसा जो [अनुकरणम्] अनुकरणवाची शब्द, उसकी [च] भी क्रियायोग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—खाट्कृत्य (खाट् ऐसा शब्द करके)। खाट्कृतम्। यत् खाट्करोति॥ उदाहरणों में पहले किसी ने 'खाट्' ऐसा बोला था। दूसरे ने उसका अनुकरण करके 'खाट्' ऐसा कहा। तो उस अनुकरणवाले शब्द की प्रकृत सूत्र से गति संज्ञा हो गई। पूर्ववत् ही सर्वत्र गतिसंज्ञा का फल जानें॥

आदरानादरयोः सदसती ॥१।४।६२॥

आदरानादरयोः ७।२॥ सदसती १।२॥ स०—आदरश्च अनादरश्च आदरानादरौ, तयोः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। सदसतीत्यत्रापीतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः॥ अर्थः—आदरे अनादरे चार्थे यथाक्रमं सत् असत् शब्दौ क्रियायोगे गतिसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः॥ उदा०—सत्कृत्य। सत्कृतम्। यत् सत्करोति॥ असत्कृत्य। असत्कृतम्। यद् असत्करोति॥

भाषार्थः—[सदसती] सत् और असत् शब्द यदि यथासङ्ख्य करके [आदरानादरयोः] आदर तथा अनादर अर्थ में वर्त्तमान हों, तो उनकी क्रियायोग में गति संज्ञा और निपात संज्ञा होती है॥ यथासङ्ख्यमनु० (१।३।१०) से यथाक्रम सत् शब्द से आदर, तथा असत् शब्द से अनादर अर्थ में गति संज्ञा होती है॥ उदा०—सत्कृत्य (सत्कार करके)। सत्कृतम् (सत्कार किया)। यत् सतकरोति॥ असत्कृत्य (असत्कार करके)। असत्कृतम्। यत् असत्करोति॥ गति संज्ञा के कार्य सब पूर्ववत् ही हैं॥

भूषणेऽलम् ॥१।४।६३॥

भूषणे ७।१॥ अलम् अ०॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे निपाताः॥ अर्थः—भूषणेऽर्थे वर्त्तमानो योऽलं शब्दः, स क्रियायोगे गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति॥ उदा०—अलंकृत्य। अलंकृतम्। यद् अलंकरोति॥

भाषार्थः—[भूषणे] भूषण अर्थ में वर्त्तमान जो [अलम्] अलम् शब्द, उसकी क्रियायोग में गति संज्ञा और निपातसंज्ञा होती है॥

उदा०—अलंकृत्य (भूषित करके)। अलंकृतम्। यद् अलंकरोति॥

अन्तरपरिग्रहे ॥१।४।६४॥

अन्तः अ०॥ अपरिग्रहे ७।१॥ स०—अपरिग्रह इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः॥ अर्थः—अपरिग्रहेऽर्थे वर्त्तमानो योऽन्तः शब्दः स क्रियायोगे गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति॥ उदा०—अन्तर्हत्य। अन्तर्हतम्। यदन्तर्हन्ति॥

भाषार्थः—[अपरिग्रहे] अपरिग्रह अर्थात् न स्वीकार करने अर्थ में वर्त्तमान [अन्तः] अन्तर् शब्द की क्रियायोग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अन्तर्हत्य (मध्य में आघात करके)। अन्तर्हतम्। यदन्तर्हन्ति ॥ स्वर-सिद्धि परि० १।४।५६ के समान ही है। केवल यहाँ 'हन्ति' में धातुस्वर से 'हन्ति' आद्युदात्त है ॥

कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते ॥१।४।६५॥

कणेमनसी १।२॥ श्रद्धाप्रतीघाते ७।१॥ स०—कणे च मनश्च कणेमनसी, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। श्रद्धायाः प्रतीघातः श्रद्धाप्रतीघातः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः। अर्थः—कणे शब्दः मनस् शब्दश्च क्रियायोगे श्रद्धायाः प्रतीघातेऽर्थे गतिसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः ॥ उदा०—कणेहत्य पयः पिबति। मनोहत्य पयः पिबति ॥

भाषार्थः—[श्रद्धाप्रतीघाते] श्रद्धा के प्रतीघात अर्थ में [कणेमनसी] कणे तथा मनस् शब्दों की क्रिया के योग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—कणेहत्य पयः पिबति (मन भरके दूध पीता है)। मनोहत्य पयः पिबति (मन भरके दूध पीता है) ॥ उदाहरणों में दूध उतना पीता है कि उसकी इच्छा और पीने की नहीं रहती, सो श्रद्धा का प्रतीघात अर्थ है ॥

पुरोऽव्ययम् ॥१।४।६६॥

पुरः अ० ॥ अव्ययम् १।१॥ अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—अव्ययं यत् पुरस् शब्दस्तस्य क्रियायोगे गतिसंज्ञा निपातसंज्ञा च भवति ॥ उदा०—पुरस्कृत्य। पुरस्कृतम्। यत् पुरस्करोति ॥

भाषार्थः—[अव्ययम्] अव्यय जो [पुरः] पुरस् शब्द, उसकी क्रिया के योग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥ असि-प्रत्ययान्त (५।३।३९) पुरस् शब्द अव्यय होता है ॥ उदा०—पुरस्कृत्य (आगे करके)। पुरस्कृतम्। यत् पुरस्करोति ॥

यहां से 'अव्ययम्' की अनुवृत्ति १।४।६८ तक जायेगी ॥

अस्तं च ॥१।४।६७॥

अस्तम् अ० ॥ च अ० ॥ अनु०—अव्ययम्, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—अव्ययम् अस्तं शब्दो गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति क्रियायोगे ॥ उदा०—अस्तंगत्य सविता पुनरुदेति। अस्तंगतानि धनानि। यदस्तंगच्छति ॥

भाषार्थ:—[अस्तम्] अस्तम् शब्द जो अव्यय है, उसकी [च] भी क्रिया के योग में गति और निपात संज्ञा होती है ।।

उदा०—अस्तंगत्य सविता पुनरुदेति (छिपने के बाद सूर्य पुनः उदित होता है) । अस्तंगतानि धनानि (नष्ट हुए धन) । यदस्तं गच्छति (जो अस्त होता है) ।

अच्छ गत्यर्थवदेषु ।।१।४।६८।।

अच्छ अ० ।। गत्यर्थवदेषु ७।३।। स०—गतिरर्थो येषां ते गत्यर्थाः, गत्यर्थाश्च वदश्च, गत्यर्थवदाः, तेषु, बहुव्रीहिगर्भेतरेतरयोगद्वन्द्वः ।। अनु०—अव्ययम्, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ।। अर्थः—अव्ययम् अच्छशब्दो गत्यर्थकधातूनां वदधातोश्च योगे गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ।। उदा०—अच्छगत्य । अच्छगतम् । यदच्छगच्छति ।। अच्छोद्य । अच्छोदितम् । यत् अच्छवदति ।।

भाषार्थ:—[गत्यर्थवदेषु] गत्यर्थक तथा वद धातु के योग में [अच्छ] अच्छ शब्द जो अव्यय, उसकी गति और निपात संज्ञा होती है ।।

उदा०—अच्छगत्य (सामने जाकर)। अच्छगतम् । यदच्छगच्छति ।। अच्छोद्य (सामने कहकर) । अच्छोदितम् । यद् अच्छवदति ।। क्त्वा तथा क्त प्रत्ययों के परे वद को वचिस्वपि० (६।१।१५) से सम्प्रसारण होकर, तथा आद्गुणः (६।१।८४) से पूर्व पर को गुण होकर—अच्छोद्य बना है । अच्छगतम् में अनुदात्तोपदेश० (६।४।३७)से, तथा अच्छगत्य में वा ल्यपि (६।४।३८) से अनुनासिक-लोप हो गया है ।।

अदोऽनुपदेशे ।।१।४।६९।।

अदः १।१।। अनुपदेशे ७।१।। स०—अनुपदेश इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ।। अर्थः—अनुपदेशे अदः शब्दः क्रियायोगे गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ।। उदा०—अदःकृत्य । अदःकृतम् । यददःकरोति ।।

भाषार्थ:—[अनुपदेशे] अनुपदेश विषय में [अदः] अदः शब्द क्रिया के योग में गति और निपातसंज्ञक होता है ।। किसी की कही हुई बात को उपदेश, तथा जो स्वयं सोचा जाये वह अनुपदेश होता है ।। उदा०—अदःकृत्य (स्वयं विचारकर) । अदःकृतम् । यददःकरोति ।।

तिरोऽन्तर्द्धौ ।।१।४।७०।।

तिरः अ० ।। अन्तर्द्धौ ७।१।। अनु०—गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ।। अर्थः—

अन्तर्द्धौ=व्यवधानेऽर्थे तिरः शब्दः क्रियायोगे गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—तिरोभूय । तिरोभूतम् । यत् तिरोभवति ॥

भाषार्थः—[अन्तर्द्धौ] अन्तर्द्धि अर्थात् व्यवधान अर्थ में [तिरः] तिरः शब्द की क्रिया के योग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—तिरोभूय (छिपकर)। तिरोभूतम्। यत् तिरोभवति। यहाँ धातु स्वर से 'भवति' आद्युदात्त है ॥

यहाँ से 'तिरोऽन्तर्द्धौ' की अनुवृत्ति १।४।७१ तक जाती है ॥

विभाषा कृञि ॥१।४।७१॥

विभाषा १।१॥ कृञि ७।१॥ अनु०—तिरोऽन्तर्द्धौ, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—तिरः शब्दोऽन्तर्द्धावर्थे कृञ्धातोर्योगे विभाषा गतिसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—तिरस्कृत्य, तिरःकृत्य । तिरस्कृतम्, तिरःकृतम । यत् तिरस्करोति, यत् तिरःकरोति । अगतिसंज्ञापक्षे—तिरः कृत्वा । तिरः कृतम् । यत् तिरः करोति ॥

भाषार्थः—अन्तर्द्धि=छिपने अर्थ में तिरः शब्द की [कृञि] कृञ धातु के योग में [विभाषा] विकल्प से गति और निपात संज्ञा होती है ॥ यहाँ तथा अगले सूत्रों में गति संज्ञा का ही विकल्प समझना चाहिये, निपात संज्ञा का नहीं ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति १।४।७५ तक, तथा 'कृञि' की अनुवृत्ति १।४।७८ तक जायेगी ॥

उपाजेऽन्वाजे ॥१।४।७२॥

उपाजेऽन्वाजे विभक्तिप्रतिरूपकौ निपातौ ॥ अनु०—विभाषा कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—उपाजे अन्वाजे इत्येतौ शब्दौ कृञो योगे विभाषा गतिसंज्ञकौ भवतः, निपातसंज्ञकौ च ॥ उदा०—उपाजेकृत्य, उपाजे कृत्वा । अन्वाजेकृत्य, अन्वाजे कृत्वा ॥

भाषार्थः—[उपाजेऽन्वाजे] उपाजे तथा अन्वाजे शब्दों की कृञ् धातु के योग में विकल्प से गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—उपाजेकृत्य (निर्बल की सहायता करके), उपाजे कृत्वा । अन्वाजेकृत्य (निर्बल की सहायता करके), अन्वाजे कृत्वा ॥ पूर्ववत् गति संज्ञा न होने से समास न होकर क्त्वा को ल्यप् नहीं हुआ है ॥

साक्षात्प्रभृतीनि च ॥१।४।७३॥

साक्षात्प्रभृतीनि १।३॥ च अ० ॥ स०—साक्षात् प्रभृति येषां तानि साक्षात्-प्रभृतीनि, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—विभाषा कृञि, गतिः, क्रियायोगे निपाताः ॥ अर्थः—साक्षात्प्रभृतीनि शब्दरूपाणि कृञो योगे विभाषा गतिसंज्ञकानि निपातसंज्ञकानि च भवन्ति ॥ उदा०—साक्षात्कृत्य, साक्षात् कृत्वा । मिथ्याकृत्य, मिथ्या कृत्वा ॥

भाषार्थः—[साक्षात्प्रभृतीनि] साक्षात् इत्यादि शब्दों की [च] भी कृञ् धातु के योग में विकल्प से गति और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा० साक्षात्कृत्य (अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष करके), साक्षात् कृत्वा । मिथ्या-कृत्य (शुद्ध को अशुद्ध बोलकर), मिथ्या कृत्वा ॥ सर्वत्र जब गति संज्ञा नहीं होगी, तब समास न होने से क्त्वा को ल्यप् नहीं होगा । तथा परि० १।४।७१ के समान ही स्वर का भेद हो जायेगा ॥

अनत्याधान उरसिमनसी ॥१।४।७४॥

अनत्याधाने ७।१॥ उरसिमनसी १।२॥ स०—अनत्याधानमित्यत्र नञ्तत्पुरुषः । उरसि च मनसि चेति उरसिमनसी, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—विभाषा कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—अत्याधानमुपश्लेषणं, तदभावे—अनुपश्लेषणे उरसिमनसी शब्दौ कृञो योगे विभाषा गतिसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः ॥ उरसि-मनसि शब्दौ विभक्तिप्रतिरूपकौ निपातौ ॥ उदा०—उरसिकृत्य, उरसि कृत्वा । मनसिकृत्य, मनसि कृत्वा ॥

भाषार्थः—[अनत्याधाने] अनत्याधान अर्थात् चिपकाके न रखने विषय में [उरसिमनसी] उरसि और मनसि शब्दों की कृञ् धातु के योग में विकल्प से गति और निपात संज्ञा होती है ॥ उरसि मनसि शब्द विभक्ति-प्रतिरूपक निपात हैं ॥ उदा०—उरसिकृत्य (अन्तःकरण में बिठाकर), उरसि कृत्वा । मनसिकृत्य (मन में निश्चय करके), मनसि कृत्वा ॥

यहाँ से 'अनत्याधाने' की अनुवृत्ति १।४।७५ तक जाती है ॥

मध्येपदेनिवचने च ॥१।४।७५॥

मध्ये, पदे, निवचने लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ अनु०—अनत्याधाने, विभाषा कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—मध्ये, पदे, निवचने इत्येते शब्दाः कृञो योगे विभाषा गतिसंज्ञका निपातसंज्ञकाश्च भवन्ति अनत्याधाने ॥ मध्ये पदे इ[illegible]

विभक्तिप्रतिरूपकौ निपातौ। निवचनं वचनाभावः, अर्थाभावेऽव्ययीभावसमासः (२।१।६)। निपातनाद् एकारान्तत्वं भवति निवचने इति ॥ उदा०—मध्येकृत्य, मध्ये कृत्वा। पदेकृत्य, पदे कृत्वा। निवचनेकृत्य, निवचने कृत्वा ॥

भाषार्थः—[मध्येपदेनिवचने] मध्ये पदे निवचने शब्दों की [च] भी कृञ् के योग में गति और निपात संज्ञा विकल्प से होती है ॥

उदा०—मध्येकृत्य (बीच में लेकर), मध्ये कृत्वा। पदेकृत्य (पद में गिनकर), पदे कृत्वा। निवचनेकृत्य (वाणी को संयम में करके), निवचने कृत्वा ॥

नित्यं हस्ते पाणावुपयमने ॥१।४।७६॥

नित्यं १।१ ॥ हस्ते पाणौ विभक्तिप्रतिरूपकौ निपातौ ॥ उपयमने ७।१॥ अनु०—कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—उपयमने हस्ते पाणौ शब्दौ कृञो योगे नित्यं गतिसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः ॥ उदा०—हस्तेकृत्य। पाणौकृत्य ॥

भाषार्थः—[हस्ते पाणौ] हस्ते तथा पाणौ शब्द [उपयमने] उपयमन अर्थात् विवाह-विषय में हों, तो [नित्यम्] नित्य ही उनकी कृञ् के योग में गति और निपात संज्ञा होती है ॥ उदा—हस्तेकृत्य (विवाह करके)। पाणौकृत्य (विवाह करके) ॥

यहाँ से 'नित्यम्' की अनुवृत्ति १।१।७८ तक जाती है ॥

प्राध्वं बन्धने ॥१।४।७७॥

प्राध्वम् अ० ॥ बन्धने ७।१॥ अनु०—नित्यं, कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—प्राध्वम् अव्ययम् आनुकूल्येऽर्थे वर्त्तते। तदानुकूल्यं यदि बन्धनहेतुकं भवति, तदा प्राध्वं शब्दस्य कृञो योगे नित्यं गतिसंज्ञा निपातसंज्ञा च भवति ॥ उदा०—प्राध्वंकृत्य ॥

भाषार्थः—[प्राध्वम्] प्राध्वं यह अव्यय शब्द आनुकूल्य अर्थ में है। सो इस शब्द की [बन्धने] बन्धनविषयक अनुकूलता अर्थ में कृञ् के योग में नित्य गति और निपात संज्ञा होती है ॥ उदा०—प्राध्वंकृत्य (बन्धन के निमित्त से अनुकूलता करके) ॥

जीविकोपनिषदावौपम्ये ॥१।४।७८॥

जीवकौपनिषदौ १।२॥ औपम्ये ७।१॥ स०—जीविको० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—नित्यं, कृञि, गतिः, क्रियायोगे, निपाताः ॥ अर्थः—जीविका उपनिषद् इत्येतौ शब्दौ औपम्ये विषये कृञो योगे नित्यं गतिसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः ॥ उदा०—जीविकाकृत्य। उपनिषत्कृत्य ॥

भाषार्थः—[जीविकोपनिषदौ] जीविका और उपनिषद् शब्दों की [औपम्ये] उपमा के विषय में कृञ् के योग में नित्य गति और निपात संज्ञा होती है॥ उदा०—जीविकाकृत्य (जीविका के समान करके)। उपनिषत्कृत्य (रहस्य के समान करके)॥

ते प्राग्धातोः ॥१।४।७९॥

ते १।३॥ प्राग् अ० ॥ धातोः ५।१॥ अर्थः—ते गत्युपसर्गसंज्ञकाः धातोः प्राग् प्रयोक्तव्याः ॥ तथा च पूर्वत्रैवोदाहृताः ॥

भाषार्थः—[ते] वे गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द [धातोः] धातु से [प्राक्] पहले होते हैं। अर्थात् धातु से पीछे वा मध्य में प्रयुक्त नहीं होंगे, पूर्व ही प्रयुक्त होंगे॥ जैसा कि सारे सूत्रों के उदाहरणों में गति तथा उपसर्गों को धातु से पहले ही लाये हैं॥

यहाँ से 'ते धातोः' की अनुवृत्ति १।४।८१ तक जायेगी॥

छन्दसि परेऽपि ॥१।४।८०॥

छन्दसि ७।१॥ परे १।३॥ अपि अ० ॥ अनु०—ते, धातोः ॥ अर्थः—छन्दसि विषये ते गत्युपसर्गसंज्ञकाः धातोः परेऽपि भवन्ति, अपि शब्दात् प्राक् च ॥ उदा०—याति नि हस्तिना। नियाति हस्तिना। हन्ति नि मुष्टिना। निहन्ति मुष्टिना॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में वे गति-उपसर्गसंज्ञक शब्द धातु से [परे] परे तथा पूर्व में [अपि] भी आते हैं॥ 'अपि' शब्द से पूर्व भी ले लिया है। जैसा कि उदाहरणों में 'नि' उपसर्ग याति तथा तथा हन्ति से परे तथा पूर्व भी प्रयुक्त हुआ है॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति १।४।८१ तक जायेगी॥

व्यवहिताश्च ॥१।४।८१॥

व्यवहिताः १।३॥ च अ० ॥ अनु०—छन्दसि, ते, धातोः ॥ अर्थः—ते गत्युपसर्गसंज्ञकाश्छन्दसि विषये व्यवहिताश्च दृश्यन्ते ॥ उदा०—आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः (ऋ० ३।४५।१)॥ आयाहि (ऋ० ३।४३।२)॥ आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु० (ऋ० १।८९।१)॥

भाषार्थः—वे गति और उपसर्गसंज्ञक शब्द वेद में [व्यवहिताः] व्यवधान से [च] भी देखे जाते हैं॥ जैसा कि ऊपर उदाहरणों में आङ् उपसर्ग याहि तथा यन्तु से व्यवधान होने पर भी हुआ है, तथा अव्यवहित होने पर भी 'आयाहि' ऐसा वेद में होता है॥

[निपातान्तर्गतकर्मप्रवचनीय-संज्ञा-प्रकरणम्]

कर्मप्रवचनीयाः ॥१।४।८२॥

कर्मप्रवचनीयाः १।३॥ अर्थः—इत ऊर्ध्वं कर्मप्रवचनीयसंज्ञा भवन्ति, इत्यधिकारो वेदितव्यः । विभाषा कृञि (१।४।९७) इति यावत् ॥ तत्रैवोदाहरिष्यामः ॥

भाषार्थः—[कर्मप्रवचनीयाः] कर्मप्रवचनीयाः यह सूत्र संज्ञा वा अधिकार दोनों हैं । इसका अधिकार विभाषा कृञि(१।४।९७) तक जायेगा । सो वहां तक के सूत्रों में यह कर्मप्रवचनीय संज्ञा करता जायेगा ॥

अनुर्लक्षणे ॥१।४।८३॥

अनुः १।१॥ लक्षणे ७।१॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—अनु-शब्दः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति, लक्षणे द्योत्ये ॥ उदा०—शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षत् । अगस्त्यमन्वसिञ्चन् प्रजाः ॥

भाषार्थः—[अनुः] अनु शब्द की [लक्षणे] लक्षण द्योतित हो रहा हो, तो कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा हो जाती है ॥

उदा०—शाकल्यस्य संहितामनुप्रावर्षत् (शाकल संहिता के समाप्त होते ही वर्षा हुई) । अगस्त्यमन्वसिञ्चन् प्रजाः (अगस्त्य नक्षत्र के उदय होते ही वर्षा हुई) ॥

कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से 'संहिता' और अगस्त्य' में यहाँ कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया (२।३।८) से द्वितीया विभक्ति हो गई । एवं उपसर्ग तथा गति संज्ञा का भी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से बाध हो गया, तो'अन्वसिञ्चन् में उपसर्गात् सुनोतिसुवति० (८।३।६५) से उपसर्ग से उत्तर न होने के कारण षत्व नहीं हुआ ॥ निपाताः का अधिकार होने से यहाँ सर्वत्र निपात संज्ञा का भी समावेश होता जा रहा है । सो पूर्व-वत् अव्यय संज्ञा होकर सु का लक् हो जायेगा । उदाहरण में संहिता की समाप्ति वर्षा को लक्षित करती है ॥

यहाँ से 'अनु:' की अनुवृत्ति १।४।८५ तक जायेगी ॥

तृतीयार्थे ॥१।४।८४॥

तृतीयार्थे ७।१॥ तृतीयायाः अर्थः तृतीयार्थः, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः । अनु०—अनुः, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—तृतीयार्थे द्योत्ये अनुशब्दः कर्म-प्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—नदीमन्ववसिता सेना ॥

भाषार्थः—[तृतीयार्थे] तृतीयार्थ द्योतित हो रहा हो, तो अनु शब्द की कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—नदीमन्ववसिता सेना (नदी के साथ-साथ सेना बस रही है) ॥ कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से नदी में पूर्ववत् द्वितीया विभक्ति हो गई है ॥

हीने ॥१।४।८५॥

हीने ७।१॥ अनु०—अनुः, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—हीने द्योत्येऽनुः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—अनुशाकटायनं वैयाकरणाः । अन्वर्जुनं योद्धारः ॥

भाषार्थः—[हीने] हीन अर्थात् न्यून द्योतित होने पर अनु शब्द की कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अनुशाकटायनं वैयाकरणाः (सब वैयाकरण शाकटायन से न्यून थे)। अन्वर्जुनं योद्धारः (सब योद्धा अर्जुन से न्यून थे)॥ पूर्ववत् यहां भी द्वितीया विभक्ति हो जाती है ॥

यहां से 'हीने' की अनुवृत्ति १।४।८६ तक जायेगी ॥

उपोऽधिके च ॥१।४।८६॥

उपः १।१॥ अधिके ७।१। च अ० ॥ अनु०—हीने, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—उपशब्दोऽधिके हीने च द्योत्ये कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—उपखार्यां द्रोणः । उपनिष्के कार्षापणम् । हीने—उपशाकटायनं वैयाकरणाः ॥

भाषार्थः—[उपः] उपशब्द [अधिके] अधिक [च] तथा हीन अर्थ द्योतित होने पर कर्मप्रवचनीय और निपातसंज्ञक होता है ॥

उदा०—उपखार्यां द्रोणः (खारी से अधिक द्रोण, अर्थात् पूरी एक खारी है, तथा उसमें एक द्रोण और अधिक है) । उपनिष्के कार्षापणम् (कार्षापण से अधिक निष्क, अर्थात् पूरा कार्षापण है, तथा उससे अधिक एक निष्क भी है)। हीन में—उपशाकटायनं वैयाकरणाः (शाकटायन से सब वैयाकरण छोटे हैं) ॥

कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपखार्यां तथा उपनिष्के में यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी (२।३।९) से सप्तमी विभक्ति हुई है । शेष में पूर्ववत् द्वितीया हो गई ॥

अपपरी वर्जने ॥१।४।८७॥

अपपरी १।२॥ वर्जने ७।१॥ स०—अपपरी इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—

कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—अपपरी शब्दौ वर्जने द्योत्ये कर्मप्रवचनीयसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवतः ॥ उदा०—अपत्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः । परित्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः ॥

भाषार्थः—[वर्जने] वर्जन अर्थात् छोड़ना अर्थ द्योतित होने पर [अपपरी] अप परि शब्दों की कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अपत्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः (त्रिगर्त देश को छोड़कर वर्षा हुई) । परित्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः । कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से त्रिगर्तेभ्यः में पञ्चमी विभक्ति पञ्चम्यपाङ्परिभिः (२।३।१०) से हो गई है । परेर्वर्जने (८।१।५) से परि का द्विर्वचन कहा गया है । परन्तु वार्तिक से उसका विकल्प हो जाता है, अतः यहां द्विर्वचन नहीं दिखाया गया ॥

आङ् मर्यादावचने ॥१।४।८८॥

आङ् १।१॥ मर्यादावचने ७।१॥ स०—मर्यादाया वचनं मर्यादावचनं, तस्मिन्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—मर्यादावचने आङ् कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—मर्यादायाम्—आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः । अभिविधौ—आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः । आ मथुरायाः, आ साङ्काश्यादित्यादीनि ॥

भाषार्थः—[आङ्] आङ् की [मर्यादावचने] मर्यादा और अभिविधि अर्थ में कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥ सूत्र में वचन ग्रहण करने से 'अभिविधि' अर्थ भी यहां निकल आता है । 'मर्यादा' किसी अवधि को कहते हैं । अभिविधि भी मर्यादा ही होती है । उसमें अन्तर इतना है कि जहां से किसी बात की अवधि बांधी जाय, उसको लेकर अभिविधि होती है । तथा मर्यादा उस अवधि से पूर्व-पूर्व तक समझी जाती है । जैसे कि—आ पाटलिपुत्रात् वृष्टो देवः, इस उदाहरण में मर्यादा है । सो इसका अर्थ होगा पाटलिपुत्र से (अवधि से) पूर्व पूर्व वर्षा हुई । यदि यह उदाहरण अभिविधि में होगा, तो इसका अर्थ होगा—पाटलिपुत्र को लेकर, अर्थात् पाटलिपुत्र में भी वर्षा हुई । इसी प्रकार अभिविधि में 'आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः' का अर्थ है—बच्चे-बच्चे तक पाणिनि जी का यश है ॥

कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से इसके योग में पाटलिपुत्र इत्यादि शब्दों में 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' (२।३।१०) से पञ्चमी विभक्ति पूर्ववत् हुई है । आङ् मर्यादाभिविध्योः (२।१।१२) से यहां पक्ष में समास भी हो जाता है । सो समास होकर आपाटलिपुत्रम्, आकुमारम् इत्यादि रूप भी बनेंगे ॥

लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः ॥१।४।८९॥

लक्षणेत्थ···वीप्सासु ७।३॥ प्रतिपर्यनवः १।३॥ स०—कञ्चित् प्रकारं प्राप्त इत्थंभूतः, इत्थंभूतस्य आख्यानम् इत्थंभूताख्यानम्, लक्षणञ्च इत्थम्भूताख्यानञ्च भागश्च वीप्सा च लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्साः, तासु, इतरेतरयोगद्वन्द्वः। प्रति-पर्यनवः इत्यत्रापि इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः निपाताः ॥ अर्थः—प्रति परि अनु इत्येते शब्दाः लक्षण इत्थम्भूताख्यान भाग वीप्सा इत्येतेष्वर्थेषु विषयभूतेषु कर्मप्रवचनीयसंज्ञकाः निपातसंज्ञकाश्च भवन्ति ॥ उदा०—लक्षणे—वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्। वृक्षं परि विद्योतते। इत्थम्भूताख्याने—साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति, मातरं परि, मातरम् अनु। भागे—यदत्र मां प्रति स्यात्। यदत्र मां परि स्यात्। यदत्र माम् अनु स्यात्। वीप्सा—वृक्षं-वृक्षं प्रति सिञ्चति। वृक्षं-वृक्षं परि सिञ्चति। वृक्षम्-वृक्षम् अनु सिञ्चति ॥

भाषार्थः— [प्रतिपर्यनवः] प्रति परि अनु इनकी [लक्षणे···प्सासु] लक्षण, इत्थम्भूताख्यान (अर्थात् वह इस प्रकार का है, ऐसा कहने में), भाग और वीप्सा इन अर्थों के द्योतित होने पर कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥ वीप्सा व्याप्ति को कहते हैं ॥

उदा०—लक्षण में—वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् (वृक्ष पर बिजली चमकती है)। वृक्षं परि विद्योतते, वृक्षमनु विद्योतते। इत्थम्भूताख्यान में—साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति (देवदत्त माता के प्रति अच्छा व्यवहार करता है)। मातरं परि, मातरम् अनु। भाग में—यदत्र मां प्रति स्यात् (यहां जो मेरा भाग हो)। यदत्र मां परि स्यात्, यदत्र माम् अनु स्यात्। वीप्सा—वृक्षं-वृक्षं प्रति सिञ्चति (प्रत्येक वृक्ष को सींचता है)। वृक्षं-वृक्षं परि सिञ्चति, वृक्षम्-वृक्षम् अनु सिञ्चति ॥ कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग संज्ञा का बाध हो गया, तो स्यात् में उपसर्ग० (८।३।८७) **से, एवं सिञ्चति में** उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) **से षत्व नहीं हुआ है। पूर्ववत् यहां भी द्वितीया हो जायेगी। वीप्सा अर्थ में 'वृक्ष' को द्वित्व** नित्यवीप्सयोः (८।१।४) **से हो जाता है ॥**

यहां से 'लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु' की अनुवृत्ति १।४।९० तक जायेगी ॥

अभिरभागे ॥१।४।९०॥

अभिः १।१॥ अभागे ७।१॥ स०—अभाग इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०— लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ **अर्थः—भागवर्जितेषु लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सास्वर्थेष्वभिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति॥**

उदा०—लक्षणे—वृक्षमभि विद्योतते विद्युत् । इत्थम्भूताख्यान—साधुर्देवदत्तो मातरमभि । वीप्सायाम्—वृक्षं-वृक्षमभि सिञ्चति ॥

भाषार्थ:— लक्षणादि अर्थों के द्योतित होने पर [अभि:] अभि शब्द की कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है [अभागे] भाग अर्थ को छोड़कर ॥ लक्षणादि अर्थों को कहने में भाग अर्थ में भी कर्मप्रवचनीय संज्ञा प्राप्त थी । सो 'अभागे' इस पद ने निषेध कर दिया ॥ उदा०—लक्षण में—वृक्षमभि विद्योतते विद्युत् (वृक्ष पर बिजली चमकती है)। इत्थम्भूताख्यान में—साधुर्देवदत्तो मातरमभि (देवदत्त माता से अच्छा व्यवहार करता है)। वीप्सा में—वृक्षं-वृक्षमभि सिञ्चति (प्रत्येक वृक्ष को सींचता है)। पूर्ववत् षत्व-निषेध, तथा द्वितीया विभक्ति कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से हो गई ॥

प्रति: प्रतिनिधिप्रतिदानयो: ॥१।४।९१॥

प्रति: १।१॥ प्रतिनिधिप्रतिदानयो: ७।२॥ स०—प्रतिनिधिश्च प्रतिदानञ्च प्रतिनिधिप्रतिदाने, तयो:, इतरेतरयोगद्वन्द्व: ॥ अनु०—कर्मप्रवचनीया:, निपाता: ॥ अर्थ:— प्रतिशब्द: प्रतिनिधिप्रतिदानविषये कर्मप्रवचनीयसंज्ञो निपातसंज्ञश्च भवति ॥ उदा०—अभिमन्युरर्जुनत: प्रति । माषान् तिलेभ्य: प्रति यच्छति ॥

भाषार्थ:—[प्रति:] प्रति शब्द की [प्रति····· दानयो:] प्रतिनिधि और प्रतिदान विषय में कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०— अभिमन्युरर्जुनत: प्रति (अभिमन्यु अर्जुन का प्रतिनिधि है) । माषान् तिलेभ्य: प्रतियच्छति (तिलों के बदले उड़द देता है) ॥ यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् (२।३।११) से 'तिलेभ्य:' तथा 'अर्जुनत:' में पञ्चमी विभक्ति हो गई है । अर्जुनत: में प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसि: (५।४।४४) से तसि प्रत्यय हुआ है । अर्जुन तसि= अर्जुन तस् = अर्जुनत: बना ॥

अधिपरी अनर्थकौ ॥१।४।९२॥

अधिपरि १।२॥ अनर्थकौ १।२॥ स०—अधिश्च परिश्चेति अधिपरी, इतरेतरयोगद्वन्द्व: । न विद्यते अर्थो ययोस्तावनर्थकौ, बहुव्रीहि: ॥ अनु०—कर्मप्रवचनीया:, निपाता: ॥ अर्थ:—अनर्थान्तरवाचिनौ अधिपरिशब्दौ कर्मप्रवचनीयसंज्ञकौ निपातसंज्ञकौ च भवत: ॥ उदा०—कुतोऽध्यागच्छति । कुत: पर्यागच्छति ॥

भाषार्थ:—[अधिपरी] अधि परि शब्द यदि [अनर्थकौ] अनर्थक अर्थात् अन्य अर्थ के द्योतक न हों, तो उनकी कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥ उदाहरण में 'आगच्छति' का जो अर्थ है, वही 'अध्यागच्छति' तथा 'पर्यागच्छति का

भी है। अतः अधि परि अनर्थक हैं, सो कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो गई है। कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से गति तथा उपसर्ग संज्ञा का बाध हो गया। अतः गतिर्गतौ (८।१।७०) से अधि परि का निघात नहीं हुआ॥

सुः पूजायाम् ॥१।४।९३॥

सुः १।१॥ पूजायाम् ७।१॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः॥ अर्थः—सुशब्दः पूजायामर्थे कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति॥ उदा०——सुसिक्तं भवता। सुस्तुतं भवता॥

भाषार्थ:—[सुः] सु शब्द की [पूजायाम्] पूजा अर्थ में कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है॥ उदा०—सुसिक्तं भवता (आपने बहुत अच्छा सींचा)। सुस्तुतं भवता (आपने अच्छी स्तुति की)॥ कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्ग संज्ञा का बाध हो गया, तो उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) से षत्व नहीं हुआ॥

यहाँ से 'पूजायाम्' की अनुवृत्ति १।४।९४ तक जाती है॥

अतिरतिक्रमणे च ॥१।४।९४॥

अतिः १।१॥ अतिक्रमणे ७।१॥ च अ०॥ अनु०—पूजायाम्, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः॥ अर्थः—अतिशब्दः कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति अतिक्रमणेऽर्थे, चकारात् पूजायामपि॥ उदा०—अतिसिक्तमेव भवता। अतिस्तुतमेव भवता। पूजायाम्—अतिसिक्तं भवता। अतिस्तुतं भवता॥

भाषार्थ:—[अतिः] अति शब्द की [अतिक्रमणे] अतिक्रमण=उल्लङ्घन [च] और पूजा अर्थ में कर्मप्रवचनीय तथा निपात संज्ञा होती है॥

उदा०—अतिसिक्तमेव भवता (आपने अधिक ही सींच दिया)। अतिस्तुतमेव भवता (आपने बहुत ही स्तुति की)। पूजा में—अतिसिक्तं भवता (आपने अच्छा सींचा)। अतिस्तुतं भवता (आपने सम्यक् स्तुति की)॥ पूर्ववत् षत्व न होना ही कर्मप्रवचनीय संज्ञा का फल है॥

अपिः पदार्थसम्भावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु ॥१।४।९५॥

अपिः १।१॥ पदार्थ……समुच्चयेषु ७।३॥ स०—पदार्थसंभा० इत्यत्रेतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः॥ अर्थः—अपिशब्दः पदार्थ सम्भावन अन्ववसर्ग गर्हा समुच्चय इत्येतेष्वर्थेषु कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति॥ उदा०—पदार्थे—मधुनोऽपि स्यात। सर्पिषोऽपि स्यात्। सम्भावने—अपि

सिञ्चेत् मूलकसहस्रम् । अपि स्तुयात् राजानम् । अन्ववसर्गे–अपि सिञ्च, अपि स्तुहि । गर्हायाम्—धिग् जाल्मं देवदत्तम्, अपि सिञ्चेत् पलाण्डुम् । समुच्चये—अपि सिञ्च, अपि स्तुहि ॥

भाषार्थः—[अपिः] अपि शब्द को [पदार्थ······येषु] पदार्थ (=अप्रयुक्त पद का अर्थ), सम्भावन, अन्ववसर्ग (=कामचार=करे या न करे), गर्हा=निन्दा तथा समुच्चय इन अर्थों में कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—पदार्थ में—मधुनोऽपि स्यात् (थोड़ासा शहद भी चाहिये)। सर्पिषोऽपि स्यात् (थोड़ासा घी भी चाहिये)। सम्भावन में—अपि सिञ्चेत् मूलकसहस्रम् (सम्भव है यह हजार मूली तक सींच दे)। अपि स्तुयात् राजानम् (शायद यह राजा की भी स्तुति करे)। अन्ववसर्ग में—अपि सिञ्च, अपि स्तुहि (चाहे सींच, चाहे स्तुति कर)। गर्हा में—धिग्जाल्मं देवदत्तम्, अपि सिञ्चेत् पलाण्डुम् (धिक्कार है देवदत्त को, जो प्याज को भी सींचता है)। समुच्चय में— अपि सिञ्च, अपि स्तुहि (सींच भी, और स्तुति भी कर)॥ कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से पूर्ववत् षत्व नहीं होता ॥

अधिरीश्वरे ॥१।४।९६॥

अधिः १।१॥ ईश्वरे ७।१॥ अनु०—कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—अधिशब्द ईश्वरेऽर्थे कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ स्वस्वामिसम्बन्धे ईश्वरशब्दः ॥ उदा० =अधि देवदत्ते पञ्चालाः । अधि पञ्चालेषु देवदत्तः ॥

भाषार्थः—[अधिः] अधि शब्द को [ईश्वरे] ईश्वर=स्वस्वामि-सम्बन्ध अर्थ में कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

उदा०—अधि देवदत्ते पञ्चालाः (पञ्चाल देवदत्त के आधीन हैं)। अधि पञ्चालेषु देवदत्तः (पञ्चालों का देवदत्त स्वामी है)। ईश्वर शब्द स्व-स्वामी-सम्बन्धवाची है। सो स्वामी व स्व दोनों में यस्मादधिकं यस्य० (२।३।९) से सप्तमी विभक्ति हो गई है ॥

यहां से 'अधिः' की अनुवृत्ति १।४।९७ तक जाती है ॥

विभाषा कृञि ॥१।४।९७॥

विभाषा १।१॥ कृञि ७।१॥ अनु०—अधिः, कर्मप्रवचनीयाः, निपाताः ॥ अर्थः—अधिशब्दः कृञि परतो विभाषा कर्मप्रवचनीयसंज्ञको निपातसंज्ञकश्च भवति ॥ उदा०—यदत्र मामाधिकुरिष्यति । पक्षे—यदत्र माम् अधि कुरिष्यति ॥

भाषार्थः—अधि शब्द की [कृञि] कृञ् के परे [विभाषा] विकल्प से कर्मप्रवचनीय और निपात संज्ञा होती है ॥

[ल-प्रकरणम्]

लः परस्मैपदम् ॥१।४।९८॥

लः ६।१॥ परस्मैपदम् १।१॥ अर्थः—लादेशाः परस्मैपदसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—तिप्, तस्, झि । सिप्, थस्, थ । मिप्, वस्, मस् । शतृ, क्वसु ॥

भाषार्थः—[लः] लादेश [परस्मैपदम्] परस्मैपदसंज्ञक होते हैं ॥ सूत्र में 'लः' पद में आदेश की अपेक्षा से षष्ठी है । सो लस्य (३।४।७७) से लकारों के स्थान में जो तिप्तस्झि० (३।४।७८) सूत्र से आदेश होते हैं, वे लिये गये हैं। लटः शतृशानचाव० (३।२।१२४) से लट् के स्थान में जो शतृ शानच् होते हैं, वे भी लादेश हैं । सो शानच् की तो आगे आत्मनेपद संज्ञा करेंगे, शतृ की यहाँ परस्मैपद संज्ञा हो गई है । क्वसुश्च (३।२।१०७) से लिट् के स्थान में क्वसु आदेश हुआ है, सो वह भी लादेश है, अतः परस्मैपदसंज्ञक हो गया । परस्मैपद संज्ञा होने से यह प्रत्यय परस्मैपदी धातुओं से ही होंगे ॥

तङानावात्मनेपदम् ॥१।४।९९॥

तङानौ १।२॥ आत्मनेपदम् १।१॥ स०—तङ् च आनश्च तङानौ, इतरेतरयोगद्वन्द्वः॥ अर्थः—तङानौ आत्मनेपदसंज्ञकौ भवतः॥पूर्वेण सूत्रेण परस्मैपदसंज्ञायां प्राप्तायामात्मनेपदं विधीयते ॥ उदा०—त, आताम्, झ । थास्, आथाम्, ध्वम् । इट्, वहि, महिङ् । आनः=शानच्, कानच् ॥

भाषार्थः—[तङानौ] तङ् और आन [आत्मनेपदम्] आत्मनेपदसंज्ञक होते हैं ॥ तङ् से 'त' से लेकर महिङ् के ङकारपर्यन्त प्रत्याहार का ग्रहण है । तथा आन से शानच् कानच् का ॥ पूर्वसूत्र से लादेशों को परस्मैपद कहा था, यह उसका अपवादसूत्र है । अर्थात् लादेशों में तङ् तथा आन आत्मनेपदसंज्ञक होते हैं । तो शेष बचे लादेश पूर्वसूत्र से परस्मैपद हो गये ॥

तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः ॥१।४।१००॥

तिङः ६।१॥ त्रीणि १।३॥ त्रीणि १।३॥ प्रथममध्यमोत्तमाः १।३॥ स०—प्रथमश्च मध्यमश्च उत्तमश्च प्रथममध्यमोत्तमाः, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अर्थः—तिङः अष्टादश प्रत्ययाः त्रीणि त्रीणि यथाक्रमं प्रथममध्यमोत्तमसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—तिप्, तस्, झि इति प्रथमः पुरुषः । सिप्, थस्, थ इति मध्यमः । मिप्, वस्, मस् इति उत्तमः । तथैवात्मनेपदेषु ॥

भाषार्थः—[तिङः] तिङ्=१८ प्रत्ययों के [त्रीणि त्रीणि] तीन-तीन के जुट अर्थात् त्रिक क्रम से [प्रथम···माः] प्रथम मध्यम और उत्तम संज्ञक होते हैं ॥

यहाँ से 'तिङस्त्रीणि त्रीणि' की अनुवृत्ति १।४।१०३ तक जाती है ॥

तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः ॥१।४।१०१॥

तानि १।३॥ एक······नानि १।३॥ एकशः अ० ॥ स०—एकवचनं च द्विवचनं च बहुवचनं चेति एकवचनद्विवचनबहुवचनानि, इतरेतरयोगद्वन्द्वः ॥ अनु०—तिङः त्रीणि त्रीणि ॥ अर्थः—तानि तिङस्त्रीणि त्रीणि एकशः=एकैकं पदं क्रमेण एकवचनद्विवचनबहुवचन-संज्ञकानि भवन्ति ॥ उदा०—तिप् (एकवचनम्), तस् (द्विवचनम्), झि (बहुवचनम्) । एवमग्रेऽपि ॥

भाषार्थः—[तानि] उन तिङों के तीन तीन (=त्रिक) की [एकशः] एक-एक करके क्रम से [एक·······चनानि] एकवचन द्विवचन और बहुवचन संज्ञा होती है ॥

यहाँ से 'एकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः' की अनुवृत्ति १।४।१०२ तक जाती है ॥

सुपः ॥१।४।१०२॥

सुपः ६।१॥ अनु०—एकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः, त्रीणि त्रीणि ॥ अर्थः—सुपश्च त्रीणि-त्रीणि एकशः=क्रमेण एकवचनद्विवचनबहुवचनसंज्ञकानि भवन्ति ॥ उदा०—सु (एकवचनम्), औ (द्विवचनम्), जस् (बहुचनम्) । एवं सर्वत्र ॥

भाषार्थः—[सुपः] सुपों के तीन-तीन की एकवचन द्विवचन और बहुवचन संज्ञा एक-एक करके हो जाती है ॥ पूर्व सूत्र में तिङों के तीन-तीन की क्रम से एकवचनादि संज्ञायें की थीं, यहाँ सुपों की भी विधान कर दीं ॥

यहाँ से 'सुपः' की अनुवृत्ति १।४।१०३ तक जाती है ॥

विभक्तिश्च ॥१।४।१०३॥

विभक्तिः १।१॥ च अ० ॥ अनु०—सुपः, तिङः, त्रीणि-त्रीणि ॥ अर्थः—सुपः तिङश्च त्रीणि-त्रीणि विभक्तिसंज्ञकानि च भवन्ति ॥ उदा०—पठतः, पुरुषान् ॥

भाषार्थः—सुपों और तिङों के तीन-तीन की [विभक्तिः] विभक्ति संज्ञा [च] भी हो जाती है ॥ उदाहरण में पठ् के आगे जो तस् आया था, तथा पुरुष के आगे जो शस् आया, उस शस् को पूर्ववत् प्रथमयोः० (६।१।९८) से दीर्घ, तथा तस्माच्छसो नः० (६।१।९९) से 'स्' को 'न्' होकर पुरुषान् व पठतस् बना । अब आन् (शस्) व तस् की विभक्ति संज्ञा होने से नकार व सकार की इत् संज्ञा हलन्त्यम् (१।३।३) से प्राप्त होती है, पर उसका न विभक्तौ तुस्माः (१।३।४) से निषेध हो जाता है ॥

युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः ॥१।४।१०४॥

युष्मदि ७।१॥ उपपदे ७।१॥ समानाधिकरणे ७।१॥ स्थानिनि ७।१॥ अपि अ० ॥ मध्यमः १।१॥ स्थानं प्रसक्तमस्यास्तीति स्थानी ॥ **अर्थः**—युष्मदि शब्द उपपदे समानाधिकरणे सति=समानाभिधेये तुल्यकारके सति स्थानिनि=अप्रयुज्यमाने, अपि=प्रयुज्यमानेऽपि मध्यमपुरुषो भवति ॥ **उदा०**—त्वं पचसि, युवां पचथः, यूयं पचथ । अप्रयुज्यमानेऽपि—पचसि, पचथः, पचथ ॥

भाषार्थः—[युष्मदि] **युष्मद् शब्द के** [उपपदे] **उपपद रहते** [समानाधिकरणे] **समान अभिधेय होने पर** [स्थानिनि] **युष्मद् शब्द का प्रयोग न हो** [अपि] **या हो, तो भी** [मध्यमः] **मध्यम पुरुष होता है** ।

यहाँ से 'उपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि' **की अनुवृत्ति** १।४।१०६ **तक, तथा** 'युष्मदि मध्यमः' **की अनुवृत्ति** १।४।१०५ **तक जाती है** ॥

प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च ॥१।४।१०५॥

प्रहासे ७।१॥ च अ० ॥ मन्योपपदे ७।१॥ मन्यतेः ५।१॥ उत्तमः १।१॥ एकवत् अ० ॥ च अ० ॥ **स०**—मन्य उपपदं यस्य स मन्योपपदः, तस्मिन्, बहुव्रीहिः ॥ **अनु०**—युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः ॥ **अर्थः**—प्रहासः=परिहासः, प्रहासे गम्यमाने मन्योपपदे धातोर्युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमपुरुषो भवति, मन्यतेर्धातोश्चोत्तमपुरुषो भवति, स चोत्तम एकवद् भवति ॥ **उदा०**—एहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे, नहि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः । एहि मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि, यातस्तेन ते पिता ॥

भाषार्थः—[प्रहासे] **परिहास गम्यमान हो रहा हो, तो** [च] **भी** [मन्योपपदे] **मन्य है उपपद जिसका, ऐसी धातु से युष्मद् उपपद रहते, समान अभिधेय होने पर, युष्मद् शब्द का प्रयोग हो या न हो, तो भी मध्यम पुरुष हो जाता है, तथा उस** [मन्यतेः] **मन धातु से** [उत्तमः] **उत्तम पुरुष हो जाता है, और उस उत्तम पुरुष को** [एकवत्] **एकवत्=एकत्व** [च] **भी हो जाता है** ॥

उदा०—**एहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे, न हि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः (तुम ऐसा समझते हो कि मैं चावल खाऊंगा, नहीं खाओगे, क्योंकि वह तो तुम्हारे अथिति खा गये)। एहि मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि, यातस्तेन ते पिता (तुम यह समझते हो कि मैं रथ पर चढ़कर जाऊंगा, सो नहीं जा सकते, क्योंकि रथ पर तो चढ़कर तुम्हारे पिता चले गये) ॥ उदाहरण में कोई किसी को चिढ़ाके ये वाक्य बोल रहा था कि तुम क्या खाओगे, वा रथ से जाओगे ? सो यहां हँसी=प्रहास से कहा जा रहा है।**

यहाँ भोक्ष्यसे में उत्तम पुरुष (भोक्ष्ये), तथा मन्ये में मध्यम पुरुष (मन्यसे) प्राप्त था, सो उत्तम के स्थान में मध्यम, तथा मध्यम के स्थान में उत्तम का विधान कर दिया है। उदाहरण में 'भुज्' धातु 'मन्य' उपपदवाली है, अतः मध्यम पुरुष हो गया है ॥

अस्मद्युत्तमः ॥१।४।१०६॥

अस्मदि ७।१॥ उत्तमः १।१॥ अनु०—उपपदे, समानाधिकरणे स्थानिन्यपि ॥ अर्थः—अस्मद्युपपदे समानाभिधेये सति प्रयुज्यमानेऽप्यप्रयुज्यमानेऽप्युत्तमपुरुषो भवति॥ उदा०—अहं पचामि। आवां पचावः। वयं पचामः। अप्रयुज्यमानेऽपि—पचामि, पचावः, पचामः ॥

भाषार्थः—[अस्मदि] अस्मद् शब्द उपपद रहते, समान अभिधेय हो, तो अस्मद् शब्द प्रयुक्त हो या न हो, तो भी [उत्तमः] उत्तम पुरुष हो जाता है॥ उदा०—अहं पचामि। आवां पचावः। वयं पचामः। अप्रयुज्यमान होने पर—पचामि, पचावः, पचामः ॥

शेषे प्रथमः ॥१।४।१०७॥

शेषे ७।१॥ प्रथमः १।१॥ अर्थः—मध्यमोत्तमविषयादन्य शेषः। यत्र युष्मदस्मदी समानाधिकरणे उपपदे न स्तः, तस्मिन् शेषविषये प्रथमपुरुषो भवति ॥ उदा०—पचति, पचतः, पचन्ति ॥

भाषार्थः—मध्यम उत्तम पुरुष जिन विषयों में कहे गए हैं, उनसे [शेषे] अन्य विषय में [प्रथमः] प्रथम पुरुष होता है॥ उदा०—पचति, पचतः, पचन्ति ॥

यहाँ शेष का अभिप्राय है—'युष्मद् अस्मद् का अभाव', न कि 'युष्मद् अस्मद् से अन्य का सद्भाव'। इसीलिए त्वं च देवदत्तश्च पचथः इत्यादि वाक्यों में युष्मद् अस्मद् से अन्य का सद्भाव होने पर भी प्रथम पुरुष नहीं होता, और 'भूयते' आदि में युष्मद् अस्मद् का अभाव होने के कारण प्रथम पुरुष होता है ॥

परः सन्निकर्षः संहिता ॥१।४।१०८॥

परः १।१॥ सन्निकर्षः १।१॥ संहिता १।१॥ अर्थः—परशब्दोऽतिशयवाची, वर्णानां परः=अतिशयितः सन्निकर्षः=प्रत्यासत्तिः संहितासंज्ञको भवति ॥ उदा०—दधि+अत्र=दध्यत्र। मधु+अत्र=मध्वत्र ॥

भाषार्थः—वर्णों के [परः] अतिशयित=अत्यन्त [सन्निकर्षः] सन्निकर्ष अर्थात् समीपता की [संहिता] संहिता संज्ञा होती है ॥

उदाहरणों में इकार अकार, तथा उकार अकार की अत्यन्त समीपता में

संहिता संज्ञा होने से संहितायाम् (६।१।७०) के अधिकार में इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश हो गया है ॥ यहां वर्णों की अत्यन्त समीपता का अर्थ है—'वर्णों के उच्चारण में अर्द्धमात्रा से अधिक काल का व्यवधान न होना ॥'

विरामोऽवसानम् ॥१।४।१०९॥

विरामः १।१॥ अवसानम् १।१॥ अर्थः—विरामोऽवसानसंज्ञको भवति ॥

उदा०—वृक्षः, प्लक्षः । दधिँ, मधुँ ॥

भाषार्थः—[विरामः] विराम अर्थात् वर्णोच्चारण के अभाव की [अवसानम्] अवसान संज्ञा होती है ॥

अवसान संज्ञा होने से खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५) से विसर्जनीय हो जाता है । दधिँ मधुँ में अवसान संज्ञा होने से अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः (८।४।५६) से अनुनासिक हो गया है । इस सूत्र में वावसाने (८।४।५५) से अवसान की अनुवृत्ति आती है ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥